अध्याय - ३

प्रेमचन्द और उनका युग (सन् १९१८ -१९३६ ई०)

कथा-साहित्य में जो प्रेमचन्द -युग है, कविता के क्षेत्र में वही छायावाद युग है। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यास साहित्य अपरिपक्व, एकांगी, घटनात्मक, मनोरंजन -प्रधान या सुधारवादी, जीवन-दृष्टि शून्य था। प्रेमचन्द ने उसमें नयी चेतना फूंक दी और उसे पुष्ट, बहुआयामी, चरित्रात्मक, महत् उद्देश्यलक्षी बनाया तथा उसे एक नयी जीवन-दृष्टि --मानवतावादी दृष्टि -- प्रदान की। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यास-कारों में मानव का अभाव-सा खिलता था, मानव-चरित्रों का निर्माण करके प्रेमचन्द ने उसे पूरा किया। जीवन एवं पाश्चात्य उपन्यास साहित्य का जितना अनुभव व ज्ञान प्रेमचन्दजी को था उतना उनके पुरोगामियों में सम्भवत: किसी को नहीं था। हिन्दी में प्रेमचन्दजी के अतिरिक्त अन्य दो महानुभावों के नाम से हिन्दी साहित्य के किसी काल-विशेष का नामाभिधान हुआ है -- बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। इन दोनों ने हिन्दी साहित्य के उत्कर्ष के लिए शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक कष्टों को सहर्ष अंगीकृत किया था। महान् से महान् त्याग करने में उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। कई नवोदित साहित्यकारों को स्थापित करने में उनका योगदान रहा है। घाटा खाकर या अनेक आर्थिक संकटों का सामना करके भी वे पत्र-पत्रिकाओं को चलाते रहे। हरिश्चन्द्र मैगेज़िन और सरस्वती आदि।--बिल्कुल यही बात हम मुंशी प्रेमचन्दजी के बारे में कह सकते हैं। आर्थिक संकटों से नजात उन्हें कभी नहीं मिली, तथापि सरस्वती के इस सच्चे साधक ने लक्ष्मी की गुलामी कभी अंगीकार नहीं की। प्रेमचन्दजी चाहते तो अपनी प्रतिभा के बल पर अतुल सम्पत्ति के स्वामी हो सकते थे। परन्तु सरस्वती के साधक को भला लक्ष्मी का मोह कैसे हो सकता है। 'हंस' और 'जागरण' का सम्पादन उन्होंने घाटा उठाकर भी किया। प्रेमचन्दजी की आर्थिक स्थिति निरन्तर गिरती गयी। आखिरकार ४ जुलाई, १९३६ को 'हंस' का सम्पादन-भार भारतीय साहित्य परिषद् ने ले लिया। उन्हीं दिनों सेठ गोविन्ददास का एक नाटक 'स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त' हंस में प्रकाशित हुआ था जिससे 'हंस' ब्रिटिश शासन का कोपभाजन हुआ। 'हंस' से एक हज़ार

---

१. 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' : डॉ० गणेसन : पृ० ५८।

रुपए की जमानत मांगी गयी । साहित्य परिषद् ने पत्र को ही बन्द कर दिया । प्रेमचन्दजी उबल पड़े कि भारतीय -परिषद् को बिना प्रेमचन्दजी की सम्मति के `हंस` बन्द करने का अधिकार नहीं है, हंस तो मेरा तीसरा बेटा है : अत: उन्होंने शिवरानी से कहा, " रानी, तुम `हंस` की जमानत कर दो , चाहे मैं रहूं या न रहूं `हंस` चलेगा । यदि मैं जिन्दा रहा तो सब प्रबन्ध कर लूंगा । यदि मैं चल दिया तो मेरी यादगार होगी ।[1] अपने इन पत्रों द्वारा प्रेमचन्दजी ने अनेक नवोदित साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया था । " आज हिन्दी में जैनेन्द्र, अज्ञेय, राधाकृष्ण, जनार्दन नागर, जनार्दन झा द्विज, गंगाप्रसाद मिश्र, वीरेश्वर मिश्र, उपेन्द्रनाथ `अश्क` , वीरेन्द्रकुमार जैन, पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक हैं जिनको प्रेमचन्द ने अपने हाथ से संवारा है । जिनकी नयी प्रतिभा को इन्होंने पहचाना उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया ।[2] उर्दू के प्रसिद्ध कवि रघुपति सहाय (फिराक गोरखपुरी) को कवि-रूप में स्थापित करने में प्रेमचन्दजी का श्रेय कम नहीं था ।[3] इस प्रकार प्रेमचन्दजी अपने आप में एक संस्था - एक युग थे । उस युग के सभी साहित्यकारों पर उनका जादू सवार था । अत: इस युग को प्रेमचन्द युग कहना अनुपयुक्त न होगा ।

युगीन परिस्थितियां : उपन्यास को समाज के संघर्षपूर्ण अस्तित्व की व्याख्या कहा गया है, अत: आलोच्यकाल की विभिन्न परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार करना असमीचीन न होगा । प्रथम विश्वयुद्ध सन् १६१६ ई० में समाप्त हो चुका था । उसमें भारत ने इंग्लैण्ड को सम्पूर्ण सहयोग दिया था, तथापि युद्ध की समाप्ति पर अंग्रेजों ने भारत के हित की तनिक मात्र परवाह न करके सन् १६१६ ई० में रौलेट एक्ट पास किया जिसमें भारतीयों के रहे-सहे अधिकार भी छीन लिये गये । भारतीय इतिहास उसे `काला कानून` के नाम से अभिहित किया गया । देशभर में आंधी उठी । १३ अप्रैल १६१६ के दिन पंजाब के अमृतसर नामक शहर में के `जलियांवाला बाग` में जनरल डायर ने निहत्थे लोगों पर मशीन गन द्वारा गोलियों की वर्षा की । इस घटना ने अंग्रेजों की

---

१. `कलम का मजदूर :प्रेमचन्द` : मदन गोपाल : पं० पृ० ३२४ ।

२. ` प्रेमचन्द और उनकी उपन्यास कला` :डॉ० रघुवर दयाल वार्ष्णेय : पृ० १६ ।

३. विस्तृत विवरण के लिए देखिए :` कलम का सिपाही` : अमृत राय : पृ० १७५-७६

नृशंसता एवं बर्बरता को चरमसीमा पर पहुंचा दिया।

भारतीय राजनीति में गांधीजी का आविर्भाव इस काल की एक प्रमुख घटना है। अहिंसात्मक ~~सत्यग्र~~ सत्याग्रह के द्वारा दक्षिण अफ्रिका में सफलता प्राप्त करके सन् १९१५ ई० में वे भारत आ पहुंचे और अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। सन् १९१९ ई० में तिलक की मृत्यु के पश्चात् कांग्रेस की बागडोर उनके हाथों में आ गयी। भारतीय इतिहास के क्षितिज पर गांधीजी का उदय होने के पूर्व तक कांग्रेस का कार्य मात्र नम्र निवेदनों और विरोध पत्रों को सरकार बहादुर तक पहुंचाना था। महात्मा गांधी के आविर्भाव से उसमें एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया। उन्होंने कांग्रेस की काया को ही पलट दिया। पहली बार देश का दिमाग (शिक्षित वर्ग) और दिल (विराट जनता) जुड़ पाया। उन्होंने कांग्रेस को एक विस्तृत धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया। स्वाधीनता के साथ ग्राम-सुधार, ग्रामोद्योगों का पुनरुद्धार, स्वदेशी का प्रचार, खादी, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार, स्त्री-शिक्षा, राष्ट्रीय-शिक्षा आदि भारतीय जीवन के प्राण-प्रश्नों की प्रतिष्ठा द्वारा समूचे देश में एक नवीन चेतना का आविर्भाव हुआ। सत्य और अहिंसा को हथियार बनाया गया। असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलनों ने देश की फ़िजा को ही बदल डाला। सरदार पटेल ने सन् १९२८ ई० के बारडोली सत्याग्रह को सफलता दिलाकर सत्याग्रह के सामर्थ्य को सिद्ध कर दिया। उसी वर्ष साइमन कमीशन का बहिष्कार हुआ। सन् १९२९ ई० के लाहौर अधिवेशन में युवक-सम्राट पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने पूर्ण स्वराज्य का नारा दिया। सन् १९३० ई० में राष्ट्रपिता गांधीजी ने दांडीकूच करके नमक के कानून का भंग किया। शासक-दल में खलबली मच गई। गांधीजी, सुभाषचन्द्र बोस, सरदार वल्लभभाई पटेल, पण्डित मोतीलाल नेहरू, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, अब्बास तैयबजी, इमाम साहब, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, सरोजिनी नायडू, डा० अन्सारी, मौलाना आज़ाद आदि सभी नेताओं को जेल में ठूंस दिया गया। सन् १९३१ ई० में गांधी-इर्विन समझौता हुआ। नेताओं को मुक्त किया गया। उसी वर्ष द्वितीय गोलमेजी परिषद् (Round table conference) में हाजिरी देने गांधीजी गये परन्तु अंग्रेजों की प्रपंच नीति से निराश होकर लौट आये। पुनः सत्याग्रह का ऐलान हुआ। गांधीजी तथा अन्य नेताओं को पकड़ लिया गया। सत्याग्रह की शक्ति को तोड़ने के लिए अंग्रेजों की कूटनीति ने जगह-जगह कौमी हुल्लड़ों की आग को फैलाया।

परिस्थितियों से समझौता करके कांग्रेस ने सन् १९३५ ई० में प्रान्तीय स्वराज्य के लिए चुनाव लड़ना मंजूर कर लिया । तदनुसार सन् १९३६ ई० में बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश), मध्य प्रान्त, उड़िसा, सरहद प्रान्त आदि प्रदेशों में कांग्रेसी मन्त्री-दलों की स्थापना हुई ।

विवेच्य काल में सामाजिक स्थिति भी प्राय: विश्रृंखलित थी । शहरों में पूंजीवादी व्यवस्था पनपने लगी थी । अनेक नये कल-कारखाने अंग्रेज तथा भारतीयों के प्रयत्नों से खुलते जा रहे थे । टाटा का लोहे का कारखाना जमशेदपुर में शुरू हो जाता है । बिजली के आविष्कार ने औद्योगिकरण को तीव्रगामी बना दिया । मुगलों के समय का विश्व का महानतम शहर आगरा औद्योगिक नगर न होने के कारण बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की तुलना में पिछड़ जाता है । लन्दन विश्व का सबसे बड़ा बाजार हो जाता है । इस औद्योगीकरण के कारण सम्मिलित परिवार और गांव टूटते जाते हैं । औद्योगीकरण से विकसित पूंजीवाद सामन्तवाद की भी कमर तोड़ देता है ।

आर्य समाज का प्रभाव बढ़ रहा था, तथपि समाज के प्रत्येक वर्ग में अन्धविश्वास, अशिक्षा और अनेक प्रकार की कुरीतियां फैली हुई थीं । अनमेल विवाह तथा दहेज प्रथा समाज को घुन की तरह खा रही थी । विधवा-विवाह को पूर्णतया मान्यता नहीं मिली थी । बड़े-बड़े मन्दिर तथा मठ व्यभिचार तथा पतन के गढ़ बनते जा रहे थे । परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी के उदय ने नारियों की स्थिति में अभूतपूर्व परिवर्तन पैदा किया । अबला अब सबला बनकर राष्ट्रीय आन्दोलनों में हिस्सा लेने लगी । वह अब पुरूषों की वासना एवं हवस से परिचालित कठ-पुतली मात्र न रहकर प्रत्येक क्षेत्र में पुरूषों से कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने लगी । इस प्रकार महात्मा गांधी ने समाज के प्रत्येक क्षेत्र में प्राणों का संचार किया ।

गांधी और मुंशी : महात्मा गांधी और मुंशी प्रेमचन्द उभय का क्रमश: भारतीय राजनीति एवं हिन्दी साहित्य में प्रवेश अनेक दृष्टियों से समानता रखता है । दोनों करीब-करीब एक ही साथ आते हैं । दोनों ने क्रमश: कांग्रेस तथा हिन्दी उपन्यास-साहित्य को बहुआयामी एवं विस्तृत फलक दिया । दोनों की दृष्टि मानवतावादी थी अत: दोनों ही भारत के सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आये । दोनों ने भारत का उद्धार ग्रामोद्धार में

देखा। स्त्री एवं दलित कृषक-वर्ग की उन्नति के लिए दोनों ने आजीवन कार्य किया। दोनों हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रखर हिमायती थे। आश्चर्यकी बात तो यह है कि प्रेमचन्द की हिन्दी ही गांधी की हिन्दुस्तानी थी। भारतीय समाज एवं साहित्य के चौमुखी विकास के लिए दोनों ने वैयक्तिक सुखों का सर्वथा त्याग किया। दोनों ने देश व साहित्य के सम्मुख परिवार को नगण्य समझा। दोनों का जीवन साधना व तपश्चर्या का अद्वितीय उदाहरण पेश करता है। यहां हम डॉ० सुरेश सिनहा के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि प्रेमचन्द और गांधी यह दोनों ही समानार्थक शब्द माने जा सकते हैं। एक उन्हीं धारणाओं की अभिव्यक्ति राजनीति के क्षेत्र में करता है, दूसरा साहित्य में। दोनों में समर्थता भी समान है, दोनों में दुर्बलताएं भी समान हैं। गरज यह कि दोनों की सीमाएं और सम्भावनाएं एक-सी हैं। हत्या दोनों की ही हुई। सामाजिक विषमताओं और यन्त्रणाओं ने प्रेमचन्द की हत्या की, जिनमें धीरे-धीरे वे 'स्व' को 'पर' के लिए घोलते रहे। दोनों ही मानवता के अपने और गांधीजी की हत्या भी सामाजिक विषमताओं और धार्मिक मदमन्धता ने की। वे भी 'स्व' को 'पर' के लिए जीवनपर्यन्त घोलते रहे। दोनों ही मानवता के अपने शीर्ष स्थान पर थे और दोनों की ही हत्या हमने -- मानवता का दम भरने वाले -- अपने ही हाथों से की। पर न हम राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी को भूला सकते हैं, और न साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द को ही भुला सके। संयोग यह कि न हम राजनीति के क्षेत्र में दूसरा गांधी ही पा सके और न साहित्य के क्षेत्र में दूसरा प्रेमचन्द ही। दोनों ही अमर हैं -- अजर हैं।[1]

<u>प्रेमचन्द एक कृती व्यक्तित्व</u> : हिन्दी उपन्यास-साहित्य के युग निर्माता प्रेमचन्द का जन्मपत्री का नाम धनपतराय चाचा-ताऊ का मुंह बोला नाम नवाबराय (इसी नाम से प्रेमचन्द के लेखकीय जीवन का श्रीगणेश हुआ) तथा मित्रों द्वारा दिया हुआ नाम बम्बूक था।[2] इनका जन्म बनारस से आजमगढ़ जानेवाली सड़क पर बसे लमही नामक गांव में श्रावण वदी १० संवत् १९३७, ३१ जुलाई १८८० ई० शनिवार को श्रीवास्तव कायस्थ-परिवार में हुआ। इनके पिता मुंशी अजायबराय गीता और दूसरे शास्त्रों का पाठ करते थे, परन्तु रस्मी धर्म में उनका विश्वास नहीं था। कहते, धर्म का मूल सदाचार है : धार्मिक अनुष्ठान तो महज एक ढकोस-

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास' : डॉ० सुरेश सिनहा : पृ० १३८।
२. 'कलम का मजदूर' : प्रेमचन्द' : मदन गोपाल : पृ० ३६।

ढकोसला है।[1] पिता के ये संस्कार प्रेमचन्दजी को भी विरासत के रूप में मिले हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु यह भी प्रकृति का एक भारी व्यंग्य था कि जो आगे चलकर आजीवन समाज की मुर्दा रूढ़ियों से जूझते रहे उनका जन्म ही एक अन्धश्रद्धायुक्त रूढ़ि की छाया में हुआ था।[2]

शैशवकालीन प्रभाव : शैशवकालीन प्रभाव जीवन को बहुत गहराई तक प्रभावित करते हैं। शिशु के मनोमुकुर में जो भाव-छवियां प्रतिबिम्बित होती हैं, वे चिर-स्थायी रहती हैं। नवाब जब छः वर्ष के थे तब की एक स्मृति है कज़ाकी की। कज़ाकी एक डाक-हरकारा था। वह उन दिनों उनके पिताजी के साथ ही आजमगढ़ की एक तहसील में रहता था। जात का पासी, पर बड़ा ही हंसमुख, बड़ा ही साहसी बड़ा ही जिन्दादिल। डाक का थैला रखते ही वह बच्चों के साथ मैदान में निकल पड़ता, कभी उनके साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियां सुनाता। वह नवाब को बहुत ही प्यार करता था। अपने कन्धों पर बिठाकर नवाब को घुमाता। 'उसे चोरी और डाके, मारपीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियां याद थीं। .... उसकी कहानियों में चोर और डाकू सच्चे योद्धा थे जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे।'[3] प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियों की भावभूमि यहां से तैयार हो रही थी। चालीस वर्ष बाद सन् १९२६ ई० में प्रेमचन्दजी ने उसी कज़ाकी पर एक कहानी लिखी जो माधुरी के अप्रैल अंक में प्रकाशित हुई थी।[4] 'वरदान' उपन्यास में विरजन द्वारा वर्णित देहाती लोगों की भूत-प्रेत सम्बन्धी मान्यताओं का जो वर्णन है, वह कदाचित् इन्हीं स्मृतियों पर आधारित है।[5]

आठवें साल में उनकी पढ़ाई शुरू हो गई, ठीक वही पढ़ाई जिसका कायस्थ घरानों में चलन था।, उर्दू-फारसी।[6] इन्हीं दिनों की अठखेलियों का वर्णन प्रेमचन्दजी ने अपनी एक कहानी 'चोरी' (माधुरी, सितम्बर -१९२५) में खूब डूब-डूब कर लिया है।[7] 'बड़े भाई साहब' (हंस, नवम्बर-१९३४) में भी इन

---

१. 'कलम का मजदूर : प्रेमचन्द' : मदन गोपाल : पृ० १० । ७. वही : पृ० १४।

२. 'कलम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० ११ । ३. वही : पृ० १४ ।

४. वही : पृ० ६५८ । ५. 'वरदान' : पृ० ६९-७० । ६. 'कलम का सिपाही : पृ० १४

बाल-स्मृतियाँ का सुन्दर जायका दिया गया है।

इसी वर्ष सन् १८८८ ई० में उनके बाल-मानस पर एक भयंकर वज्राघात हुआ --उनकी माता आनन्दीदेवी का देहान्त हो गया। सावनी बयार के स्थान पर ग्रीष्म के झोंके चलने लगे। ' दो बरस बाद पिताने फिर ब्याह कर लिया।.... बारह-तेरह बरस की उम्र तक पहुंचते -पहुंचते उसे सिगरेट-बीड़ी का चस्का लग चुका था और अपने ही शब्दों में उन बातों का ज्ञान हो गया था जो कि बच्चों के लिए घातक है। बिना माँ के बच्चे का ऐसा ही हाल होता है। न हो तो अचरज की बात है।' [1] यह कमी इतनी गहरी, इतनी तड़पाने वाली रही कि दर्द की टीस जिन्दगीभर बनी रही। यह वही टीस है जो 'कर्मभूमि' में अमरकान्त के द्वारा अभिव्यक्त हुई है: ' जिन्दगी की वह उम्र जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौदे को तरी मिल जाय तो जिन्दगीभर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खूराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी माँ का उसी जमाने में देहान्त हुआ और तबसे मेरी रूह को खूराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिन्दगी है।' [2]

प्यार की इस भूख से नवाब के जीवन में एक नया मोड़ आया। वह एक नम्बर का पढ़ीस हो गया। ' मौलाना फैज़ी के 'तलस्मि होशरूबा' की तारीफ़ है कि जिसके पचीसों हज़ार पन्ने तेरह साल के नवाब ने दो-तीन बरस के दौरान में पढ़े और और भी न जाने कितना कुछ चाट डाला जैसे रेनाल्ड की 'मिस्ट्रीज आफ़ द कार्ट आफ़ लण्डन' की पचीसों किताबों के उर्दू तर्जुमे, मौलाना सज्जाद हुसैन की हास्य- कृतियां, 'उमरावजान अदा' के लेखक मिर्ज़ा रूसवा और रतन-नाथ सरसार के ढ़ेरों किस्से। उपन्यास खत्म हो गये तो पुराणों की बारी आयी।' [3]

ये सब साहित्य वे बुद्धिलाल नामक एक बुक सेलर से उसकी दूकान की कुंजियाँ और नोट्स बेचने के एवज़ में मांगकर पढ़ते थे। इस प्रकार प्रेमचन्दकी किस्सागो प्रतिभा मनचाहा खूराक पाकर विकसित हो रही थी। प्रेमचन्द के

---

१. 'कलम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० २४-२५। २. वही : पृ० २५।
३. वही : पृ० २६।

एक दूर के मामा थे। उनका विवाह नहीं हो रहा था। अन्तत: एक चम्पा नामक चमारिन से आँखे चार कर बैठे। एक दिन चमारों द्वारा रंगे हाथों पकड़े जाने पर उनकी बुरी गत हुई। नवाब ने इस घटना पर एक नाटक लिखकर उनके सिरहाने रख दिया। मामाने उस नाटक को शायद चिरागअली को सुपुर्द कर दिया होगा, पर उसके बाद वे अपना बोरिया-बिस्तर लेकर चलते बने। बालक नवाब ने सर्वप्रथम व्यंग्य की करारी चोट को पहचाना। बाद में इस शस्त्र का उपयोग वे अपने समूचे साहित्य में यत्र-तत्र करते रहे। चालीस वर्ष बाद 'गोदान' की सिलिया और मातादीन के रूप में चम्पा और मामूसाहब फिर जी उठे।[1]

संघर्ष की तपिश : संसार का महानतम साहित्य उसके सृष्टाओं ने झेले हुए संघर्ष का परिणाम है। कै अंचलजी की एक पंक्ति है : 'फूल कांटों में खिला था, सेज पर मुरझा गया।' साहित्यरूपी पुष्प भी संघर्ष के उद्यान में ही खिलता है। प्रेमचन्दजी का साहित्य भी संघर्ष की एक अविरत यात्रा है। वे सच्चे अर्थों में 'कलम के सिपाही' थे और आजीवन कलम के द्वारा लड़ते रहे। यह संघर्ष अनेक स्तरों पर देखा जा सकता है।

(क) पारिवारिक संघर्ष : आठ वर्ष की आयु में माता की मृत्यु पिताकी दूसरी शादी। विमाता का कटु व्यवहार। यह कम था कि पिता ने सोलह वर्ष की छोटी आयु में उम्र में ज्यादा, काली भद्दी, थुलथुल, चेचकरू, अफीम खानेवाली, मचककर चलने वाली एक औरत के साथ अपने श्वसुर की सलाह से शादी कर डाली।[2] बाद में पता चलने पर उन्हें इस बात का सख्त मलाल हुआ। पर लड़के की जिन्दगी तो तबाह हो ही गई। दूसरे ही वर्ष सन् १८९७ ई० में विमाता तथा दो सौतेले भाइयों का भार धनपतराय के कन्धों पर डाल अजायबराय तो स्वर्ग सिधार गये पर

---

१. 'कलम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० २७-३० ।
२. वहीं : पृ० ३४ ।

बेचारे प्रेमचन्दजी संसार के इस कोल्हू में जिन्दगीभर पिसते रहे। उनके बहुचर्चित उपन्यास 'रंगभूमि' का 'ताहिरअली' प्रेमचन्दजी के इसी दर्द से उद्भूत प्रतीत होता है। ताहिरअली की भाँति उनकी पत्नी और विमाता में भी कभी नहीं बनी। ट्यूशन आदि के सहारे किसी प्रकार सन् १८९८ ई० में मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। बाद में अनेक स्थानों पर मास्टरी और फिर इन्स्पैक्टरी करते रहे। मैट्रिक के बाद ९८ वर्षों के पश्चात् एफ० ए० तथा २१ वर्षों के पश्चात् बी० ए० उत्तीर्ण कर सके, इससे ही उनकी पारिवारिक कठिनाइयों का पता चल सकता कहै-- है। सन् १९०६ ई० में पत्नी ने आत्महत्या का असफल प्रयास किया। इसके बाद वह मैके गई तो कभी नहीं आयीं। समाज और परिवार के विरोध के बावजूद सन् १९०६ ई० में बाल-विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह करके उन्होंने अपने आचार-विचार की एकता को मानो सिद्ध कर दिया। शिवरानी और उनकी विमाता के बीच भी काफी खिचपिच चलती रहती थी। नित्य का पारिवारिक कलह तथा नौकरी में निरन्तर बदलियों के कारण वे अन्तत: पेचिश के कायमी शिकार हो गये।

(ख) आर्थिक संघर्ष : प्रेमचन्दजी के जीवन में आर्थिक संघर्ष हमेशा बना रहा। दयानारायण निगम तथा ताज साहब को लिखे उनके पत्रों में उनकी आर्थिक तंग स्थिति के संकेत मिलते हैं।[१] 'हंस' और 'जागरण' ने उनकी आर्थिक स्थिति को और भी डाँवाडोल कर दिया। इस घाटे को पूरा करने के लिए अपनी आत्मा के विरुद्ध जाकर उन्हें फिल्म कंपनी 'अजन्ता सीनेटोन' में भी काम करना पड़ा। आर्थिक कठिनाइयों के कारण वे कभी कोई लम्बी यात्रा भी न कर सके। 'जैनेन्द्र को बड़ी हैरानी हुई थी जब मुंशीजी ने सन् '३१ की अपनी दिल्ली-यात्रा के समय उनको बतलाया था कि अपनी जिन्दगी में यह पहली बार वह दिल्ली आये हैं। इक्यावन-बावन साल की उम्र में पहली बार उन्होंने दिल्ली

---

१. 'कलम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० १६३-६४।

का मुंह देखा ।"[1] आर्थिक संकट के निवारणार्थ उन्हें नियमित छ:-सात घण्टे लिखना पडता था । और फिर उतनी ही हैरानी जैनेन्द्र को यह जानकर हुई थी कि उस प्रवास के वह सात दिन उनकी ज़िन्दगी के पहले सात दिन हैं (बीमारी के दिनों के अलावा) जब कि उन्होंने कुछ नहीं लिखा ।"[1] आर्थिक संकट के निवारणार्थ उन्हें नियमित छ: -सात घण्टे लिखना पड़ता था । इस अर्थ में वे केवल क़लम के मजदूर थे । हंस के कारण वे आजीवन आर्थिक संकट से मुक्त न हो पाए । पर इस घाटे के सौदे ने बाद में उनके परिवार को खूब फायददा पहुंचाया । इससे प्रकाशित हुई पुस्तकों से (कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि, गोदान आदि) उनके के परिवार को पर्याप्त लाभ हुआ ।[2]

(ग) साहित्यिक संघर्ष : साहित्य के इस महारथी को अपने क्षेत्र में भी कम जूझना नहीं पड़ा । उपन्यास-साहित्य को तिलस्म और ऐयारी के दलदल से निकालकर सामाजिक यथार्थ के उच्च आसन पर स्थापित करना कम संघर्ष का काम नहीं था । उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर कीचड़ उछालनेवालों में श्री अवध उपाध्याय, ठाकुर श्रीनाथ-सिंह, श्रीयुत ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' आदि थे । 'सरस्वती' और 'समालोचक' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के द्वारा यह 'पगड़ी उछाल' कार्यक्रम चल रहा था । यह और भी दु:ख की बात थी । श्री अवध उपाध्याय ने प्रेमचन्दजी पर साहित्यिक चोरी का आरोप लगाया और 'रंगभूमि' तथा 'प्रेमाश्रम' को क्रमश: 'वैनिटी फ़ेयर' (थैकरे) तथा 'रिजरेक्शन' (टाल्सटाय) की नकल घोषित किया गया । प्रेमचन्दजी ने इसका उत्तर बड़े सशक्त शब्दों में दिया --"लेख के भाव, भाषा, और शैली से विदित होता है कि किसी स्कूली लड़केने लिखा है जिसने मेरी कोई रचना पढ़ी ही नहीं । उनसे मेरा आग्रह है कि कृपया एक बार धैर्य रख-कर 'रंगभूमि' पढ़ जाइए । जिसने 'वैनिटी फ़ेयर' और रंगभूमि दोनों पढ़ा की सैर की है, वह कभी ऐसी बेतुकी बातें लिख ही नहीं सकता । 'वैनिटी फ़ेयर' आसमान पर हो, रंगभूमि ज़मीन पर, पर है वह रंगभूमि । रहा प्रेमाश्रम पर रिजरेक्शन का प्रभाव । इसके विषय में यही कहना है कि

---

१. 'क़लम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० ३६५ ।

२. देखिए : 'प्रेमचन्द और उनका युग' : डॉ० रामविलास शर्मा : पृ० ६०-६१

अभी मैंने रिजरेक्शन नहीं पढ़ा है और अगर बिना उसके पढ़े ही प्रेमाश्रम में रिजुरेक्शन के भाव आ गये हैं तो यह मेरे लिए गौरव की बात है। अभी जिन्दा रहा तो बहुत कुछ लिखूँगा और मेरे भावों और विचारों में उच्च कोटि के लेखकों जैसी बहुत-सी बातें आवेंगी। आप जो अच्छी पुस्तक देखेंगे वही मेरी किसी पुस्तक से मिलती-जुलती जान पड़ेगी। कारण यही है कि मैं अपने प्लाट जीवन से लेता हूँ, पुस्तकों से नहीं, और जीवन सारे संसार में एक है।'[1]

ठाकुर श्रीनाथसिंह तथा श्रीयुत ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' ने उन पर जातिवाद का आरोप लगाया और सिद्ध करनेकी कोशिश की कि प्रेमचन्द अपने साहित्य में ब्राह्मणोंकी घृणा करते हैं। इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा कि - 'लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान् पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुंचता है। हरेक टकेपन्थी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता।'[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्दजी पहले उर्दू में 'नवाबराय' नामसे लिखते थे पर उनके कहानी-संग्रह 'सोज़ेवतन' के कारण उन्हें अंग्रेज सत्ता का कोपभाजन होना पड़ा और 'नवाबराय' की बनी-बनायी प्रतिष्ठा का त्याग कर प्रेमचन्द नाम से नयी-गिल्ली नया दाव करना पड़ा।[3]

इसप्रकार हम देखतेह हैं कि उनकी पूरी जिन्दगी संघर्षों से गुजरी है और इस तपिश ने ही प्रेमचन्द के कुन्दन को अधिक शुद्ध व तेजस्वी किया है।

<u>अध्ययन</u> : हमारे यहां काव्य के हेतुओं में प्रतिभा के बाद व्युत्पत्ति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। व्युत्पत्ति में काव्य-शास्त्रादि का अध्ययन आता है। साहित्य एवं विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन महान् साहित्य के प्रणयन के लिए आवश्यक है।' अपने युग और विश्व के जटिल सांस्कृतिक वातावरण से परिचित हुए बिना कोई भी लेखक दान्ते की 'डिवाइन कामेडी', गेटे के 'फाउस्ट', टाल्सटाय के 'वार एण्ड पीस' अथवा तुलसी के 'मानस' जैसी कृतियों की सृष्टि नहीं कर सकता। और आज जब कि विश्व की

---

१. 'कलम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० ३८५।

२. वही : पृ० ५३०।

३. द्रष्टव्य : वही : पृ० ११३।

सारी संस्कृति-धाराएं एक सामान्य क्षितिज में आकर मिल गयी हैं, और सर्वत्र नवीन मूल्यों एवं नवीन मानों की प्रसव-पीड़ा अनुभव की जा रही है, विचारशील लेखकों और कलाकारों के का दायित्व और भी बढ़ जाता है।"[1]

प्रेमचन्दजी का मानव-जीवन का अध्ययन जैसे तो सूक्ष्म व गहरा था ही साहित्य और शास्त्र का अध्ययन भी बहुत तगड़ा था। अपने पुरोगामी तथा समकालीनों में प्रेमचन्दजी ही एक मात्र ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों का सर्वाधिक अध्ययन किया था। शैशव-काल में ही उन्होंने बहुत कुछ पढ़ डाला था। उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार रतननाथ सरसार का भी उन पर काफी प्रभाव मिलता है। अमृत राय के शब्दों में," वही सम्पूर्ण सामाजिक पैनी दृष्टि, वही बात कहने का फड़कता हुआ अन्दाज़। सरशार को मुंशीजी जिस प्रकार घोलकर पी गये थे, वही अब उनके लिखने में उतर आया था। सरशार के किस्से जिस तरह गली-कूचे, मेले-ठेले, यहां-वहां, सब जगह रुकते-ठहरते और उनकी तस्वीर उतारते हुए चलते हैं, वही चीज़ यहां है, समाज के विभिन्न अंगों की वही सजीव, चित्रमय पकड़, अन्तर इतना ही है, और वह बड़ा अन्तर है) कि मुंशीजी में विद्रोही तत्व अधिक है। मगर ढंग उन्होंने सोलहों आने सरशार का ही अपनाया है।"[2] विश्व- साहित्य के अध्ययन की एक झलक उनके इस पत्र में भी मिलती है जो उन्होंने दो जनवरी १९१७ ई० को निगम साहब को लिखा था --- "पहले यह बताइए कि विक्टर ह्यूगो की मशहूर किताब "लै मिजराब्ल" का उर्दू तर्जुमा हुआ है है या नहीं। अगर हुआ है तो कहां मिल सकता है। अगर नहीं हुआ है तो मैं इस काम में जुटना चाहता हूं। सालभर का काम है। किसी तरह पता लगाकर बतलाइए बतलाइए।"[3] इसी प्रकार" डिकेन्स के 'पिकविक पेपर्स' प्रेमचन्द को अत्यन्त प्रिय थे।.... अपनी मृत्यु -शैय्या पर पड़े-पड़े जब वे और कुछ न कर पाते थे तब उन्होंने 'पिकविक पेपर्स' पढ़नेकी इच्छा प्रकट की थी।[4] उन्होंने टाल्सटाय को भी खूब पढ़ा था। उनकी तेईस कहानियों को भारतीय परिवेश के अनुसार रूपान्तरित करके 'प्रेम-प्रभाकर' के नाम से प्रकाशित करवाया था। उनके अनुवादों से भी उनके

---

१. लेख : 'साहित्य की मर्यादा और हमारा कर्तव्य': ले० अम्बिकेश त्रिपाठी : 'कल्पना': मार्च-१९५२। २. 'कलम का सिपाही': पृ० ५३। ३. 'वही :पृ० १९२
४. 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' :डॉ भारत भूषण अग्रवाल :पृ०८६

विशद् अध्ययन का पता चलता है। टाल्सटाय की कहानियाँ के अतिरिक्त अनातोले फ्रान्स कृत 'Thais' का अनुवाद 'अहंकार' नाम से, जार्ज इलियट कृत 'Silas Marinee' का 'सुखदास' नाम से, गाल्सवर्दी कृत 'Justice', 'silver box' तथा 'Strike' का क्रमश: 'न्याय', 'चांदी की डिबिया' तथा हड़ताल' के नाम से, जवाहरलाल कृत 'Letters from a father to his daughter' का 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' नाम से उन्होंने अनुवादित किया था।[१] डिकेन्स, टाल्सटाय, फ्रान्स, गाल्सवर्दी प्रभृति के अतिरिक्त उन्होंने थैकरे का 'वैनिटी फेयर', हाल केन का 'इटर्नल सिटी', राइडर हैगर्ड का 'शी', गोर्की का 'मदर' तथा एलेक्जेण्डर कुप्रिन का 'यामा' आदि विश्वविख्यात ग्रन्थ पढ़े थे। 'यामा' से तो प्रेमचन्दजी अत्यधिक प्रभावित हुए थे।[२]

वे स्वयं तो विश्व-साहित्य का भलीभांति अवगाहन करते ही थे अपने समकालीनों को भी इस ओर प्रेरित करने का प्रयत्न करते थे। २३ मार्च सन् १९१२ ई० में अश्कजी पर लिखा गया उनका पत्र इस तथ्य की पुष्टि करता है --- "पढ़ने के लिए लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की कोई किताब ले लो, स्कूली कोर्स की किताब नहीं। अभी एक किताब निकली है, (दि एस्पेक्ट्स आफ नावल) इस विषय पर अच्छी पुस्तक है। मतलब सिर्फ यह है कि इन्सान उदार विचार वाला हो जाय। उसकी संवेदनाएं व्यापक हो जाएं। डाक्टर टैगोर के साहित्यिक और दार्शनिक निबन्ध बहुत ही आला दर्जे के हैं। रोमां रोलां का 'विवेकानन्द' जरूर पढ़ो। उनकी 'गांधी' भी पढ़ने के काबिल है। मारले के साहित्यिक निबन्ध लाजवाब हैं। डाक्टर राधाकृष्णन् की दर्शन सम्बन्धी किताबें, टाल्सटाय का 'वाट इज आर्ट' वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिए।"[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्दके अध्ययन की परिधि अत्यन्त विस्तृत है। जैनेन्द्रकुमार ने उचित ही लिखा है: "मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं। यौरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है। जानकर ही नहीं छोड़ दिया भीतर से पहचाना भी है और फिर विवेक से छानकर आत्मसात् किया है।"[४]

---

४. 'प्रेमचन्द एक कृति व्यक्तित्व' : जैनेन्द्रकुमार : पृ० २१।
१. द्रष्टव्य : 'कलम का मजदूर : प्रेमचन्द' : मदनगोपाल : पृ० ३३४।
२ द्रष्टव्य : 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य का प्रभाव' पृ० ८६-८७-९१।
३. 'प्रेमचन्द और गोर्की' : सम्पादिका : शचीरानी गुर्टू : पृ० ८८।

प्रेमचन्द का औपन्यासिक कृतित्व

प्रारम्भिक कृतियां : हिन्दी में प्रेमचन्दजी की प्रथम प्रौढ़ (तत्कालीन उपन्यास साहित्य को देखते हुए) औपन्यासिक कृति `सेवासदन` ही है। `वरदान` का हिन्दी में प्रकाशन सन् १६२० ई० में हुआ, परन्तु वह `सेवासदन` से पहले की कृति है। उर्दू में इसका प्रकाशन सन् १६१२ ई० में `जलवा-ए-ईसार` नाम से हो चुका था। अत: सामाजिक समस्याओं के निरूपण की दृष्टि से `सेवासदन` प्रेमचन्दजी की प्रथम महत्वपूर्ण कृति है जिसमें उनकी चौमुखी दृष्टि का प्रथम परिचय होता है, जो बाद में निरन्तर विकसित होती गई है। मामू के प्रणय-प्रसंग पर आधारित प्रहसन तो चिराग़-अली के सुपुर्द हो गया। इसके बाद `रूठी रानी` उपन्यास आया जो सामन्त-कालीन परिवेश लिए हुए है और अत्यन्त सामान्य है।

यह स्मरणीय है कि प्रेमचन्दजी का प्रथम उपन्यास तो `असरारे मआबिद` (देवस्थान रहस्य) है, जो बनारस से प्रकाशित होने वाले उर्दू पत्र `आवाज़ए ख़ल्क़` में धारावाहिक रूप में ८ अक्टूबर १६०३ ई० से आने लगा था। इस उपन्यास में एक महन्तजी और उनके चेले-चपाटों की पोल खोली गयी है। यह एक विचित्र संयोग है कि ८ अक्टूबर १६०३ में उनकी प्रथम रचना प्रकाश में आयी और पैंतीस साल बाद उसी ८ अक्टूबर को करीब आठ बजे उन्होंने आंखे मूंद ली। वैसे अनेक प्रसंगों में यह देखा जा सकता है कि `आठ` के अंक से प्रेमचन्दजी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सन् १६०६ में `हमखुर्मा-ओ-हम सवाब` (प्रेमा) प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने विधवा-विवाह की समस्या को उठाया है। यही उपन्यास थोड़े हेर-फेर के साथ `प्रतिज्ञा` नाम से बाद में (सन् १६२६ ई० में) प्रकाशित हुआ। `कृष्णा` में (सन् १६०७) अंग्रेजी कुशासन की निन्दा की गई है। सन् १६१२ ई० में `जलवा-ए-ईसार` (वरदान) का प्रकाशन हुआ। इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने प्रतापचन्द्र और विरजन के प्रेम, उसकी असफलता तथा अन्त में उसके उदात्तीकरण (Sublimation) को चित्रित किया है। केवल आर्थिक विषमता के कारण प्रतापचन्द्र जैसा शिक्षित, मेधावी व गुणवान युवक विरजन को प्राप्त करने में असफल रहा और कमला-चरण जैसे कबूतरबाज़, पतंगबाज़ व आवारा लौंडे से उसकी शादी हो गई।

हमारे यहां शादी-व्याह में गुण नहीं पर पैसा देखा जाता है, यह बात प्रेमचन्दजी को शुरू से अखरती थी। इसके कारण कितनी ही विरजाओं को अकाल वैधव्य का भोग होना पड़ता है। इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण की कई कमियां पाई जाती हैं। लेखक जिस पात्र को उठाता है, उसका कल्पनातीत विकास अवास्तविक -सा प्रतीत होता है। प्रतापचन्द्र पढ़ने में, वक्तृत्व में, खेल में सभी में अव्वल रहता है। दो घण्टे में वह साढ़े तीन सौ रन बना देता है।[1] वही प्रतापचन्द्र बाद में खेलते ही खेलते बालाजी के रूप में विश्व-विख्यात हो जाता है। विरजन भी अपेक्षाकृत कम समय में विदुषी और कवयित्री हो जाती है जिसकी कविताओं की चर्चा विदेश तक में होने लगती है। वस्तुत: यह उनकी प्रारम्भिक आदर्शवादी रोमाण्टिक दृष्टि के कारण हुआ है। यहां उपन्यास के मुख्य पात्रों में तो कुछ अवास्तविकता आ गयी है परन्तु मुंशी शालीग्राम, सुवामा, मुंशी संजीवनलाल, डिप्टी श्यामाचरण, सुशीला, प्रेमवती आदि पात्र पर्याप्त जीवन्त हैं। विरजन के ग्राम्य-जीवन को लेकर लिखे गये पत्र विरजन के कम प्रेमचन्दजी के अधिक लगते हैं, परन्तु उसमें ग्राम्य-जीवन का बड़ा ठीक सूक्ष्म निरीक्षण मिलता है। सच ही समाज को सूक्ष्मता के साथ देखने वाली जो आंख प्रेमचन्दजी के पास थी, हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलती। निराला ने ठीक ही कहा था --" आंखि कौनो के पास आय तो यहि के पास आय।"[2] अत: हम डॉ० हंसराज रहबर के इस मत से सहमत नहीं हो सकते कि वरदान के सभी पात्र लेखक के हाथ की कठपुतलियां हैं और हाड़-मांस के मनुष्य की तरह उभर कर सामने नहीं आते।[3]

उपर्युक्त आरम्भिक कृतियों के संक्षिप्त अनुशीलन के पश्चात् हम यहां `सेवासदन` और `गोदान` की सविशेष चर्चा करेंगे जो क्रमश: उनकी प्रौढ़ और प्रौढ़तम रचनाओं में परिगणित होती हैं।

---

१. `वरदान` : प्रेमचन्द : पृ० ६० ।

२. `कलम का सिपाही` : अमृतराय : पृ० ६५१ ।

३. `प्रेमचन्द :जीवन,कला और कृतित्व` : डॉ० हंसराज रहबर : पृ० ९९ ।

सेवासदन : `सेवासदन` पहले उर्दू में `बाजारे हुस्न` के रूप में लिखा गया, परन्तु प्रकाशन पहले हिन्दी में सन् १९१८ई० में हुआ । इसके द्वारा प्रेमचन्दजी की चौमुखी सामाजिक दृष्टि का सर्वप्रथम परिचय हुआ । इसमें प्रेमचन्दजी की कमजोरियां और विशेषताएं दोनों का दर्शन होता है ।

डॉ० राम दरश मिश्र के शब्दों में, "`सेवासदन` उपन्यास कला और समस्याओं की पकड़ तथा चित्रण दोनों दृष्टियों से पहला परिपक्व उपन्यास है ।"[१] यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट आदि ने सामाजिक उपन्यासों का पथ प्रशस्त किया था, लेकिन उस युग में ऐसे उपन्यासों को पढ़ने वालों की संख्या ज्यादा नहीं थी । डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में, "`चन्द्रकान्ता` और `तिलिस्म होशरूबा` के पढ़ने वाले लाखों थे । प्रेमचन्द ने इन लाखों पाठकों को `सेवासदन` का पाठक बनाया ।यह उनका युगान्तकारी काम था ।.... प्रेमचन्द ने `चन्द्रकान्ता` के पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, `चन्द्रकान्ता` में अरुचि भी पैदा की, जन-रुचि के लिए उन्होंने नए माप-दण्ड कायम किए और साहित्य के नए पाठक --और पाठिकाएं भी -- पैदा किए । यह उनकी जबरदस्त सफलता थी ।"[२]

(क) समस्याओं की पकड़ : प्रेमचन्दजी की दृष्टि प्रारम्भ से ही समाजोन्मुखी रही है । वे `एक्स्ट्रोवर्ट टाईप` के कलाकार हैं । उनकी पैनी दृष्टि ने भांप लिया था कि व्यक्ति की अच्छाई-बुराई का मूल उत्स समाज और उसकी भली-बुरी रूढ़ियां ही हैं । अत: उसका एक व्यापक चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत है ।

समाज की सभी समस्याएं परस्पर जुड़ी हुई रहती हैं । उदाहरणार्थ हम रिश्वत की आलोचना करते हैं, पर रिश्वत का मूल क्या है ? सुमन के पिता कृष्णचन्द्र को रिश्वत क्यों लेनी पड़ी ? दहेज के लिए । सुमन जैसी

---

१. `हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा` : डॉ० राम दरश मिश्र : पृ० ४४ ।
२. `प्रेमचन्द और उनका युग` : डॉ० राम विलास शर्मा : पृ० ३१ ।

योग्य, सुशील एवं सुन्दरी लड़की का विवाह भी बिना दहेज के नहीं हो सकता। रात-दिन बढ़ती महंगाई के बीच पिसता हुआ मध्य-वर्गीय व्यक्ति दहेज जुटाये तो कैसे ? रिश्वत के सिवा और कोई चारा नहीं या अपनी फूल जैसी लड़की को कुएं में ढकेल दे -- किसी बूढ़े खूसट दुहाज-तिहाज के खूंटे बांध दे। इसमें से अनमेल-विवाह, विधवा-समस्या, नैतिक भ्रष्टाचार जैसे अनेक विकट प्रश्न सामने आयेंगे। बेचारे कृष्णचन्द्र सुमन के दहेज के लिए रिश्वत लेते हैं पर अनभ्यस्त होने के कारण पकड़े जाते हैं। उन्हें जेल हो जाती है। अर्थाभाव में सुमन गजाधर जैसे अपात्र के गले मढ़ दी जाती है।

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था ने समाज की नींव हिला दी है। सर्वत्र नगद-नारायण की ही पूजा हो रही है। 'समरथ को दोस नाहिं गुसाईं' और समर्थ कौन ? धनवान। जब हम देखते हैं कि एक अशिक्षित, भ्रष्टाचारी, कुसंस्कारी अर्थ-पिशाच, नरभक्षी धनवान गुंडा सरेआम किसी शिक्षित, संस्कारी, चरित्र-वान व्यक्ति की पगड़ी उछाल सकता है या किसी की भी जीवन-डोरी को कभी भी कटवा सकता है, तो हमारी नज़र में चरित्र का क्या मूल्य रह जायगा ? सुमन के वेश्या होने का भी यही कारण है। सुमन प्रारम्भ से ही शौकीन तबियत है, पर गजाधर के घर में रूखी-सूखी खाकर भी अपने संस्कारों पर दृढ़ है। ग़रीबी पर भी वह गर्व करती है और भोली वेश्या के सम्बन्ध में सोचती है। --' मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूं। किसी भले मानुस के घर में मेरी रोक नहीं, कोई मुझे नीच तो नहीं समझता। वह कितना ही भोग विलास करे, पर उसका कहीं आदर तो नहीं होता। बस, अपने कोठे पर बैठी अपनी निर्लज्जता और अधर्म का फल भोगा करे।'[१]

पर मौलूद और रामनवमी के जन्मोत्सव वाले प्रसंग के बाद से वह सोचने लगी --' भोली के सामने केवल धन ही नहीं सिर झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है।'[२] इस पर उसका पति गजाधर कहता है --' आजकल धर्म

---

१. 'सेवासदन' : प्रेमचन्द : पृ० २० ।

२. वही : पृ० २४ ।

धूर्तों का अड्डा बना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक-से-एक मगर-मच्छ पड़े हुए हैं। भोले-भाले भक्तों को निगल जाना उनका काम है।"[1] परन्तु होलीवाले दिन ~~पद्म~~ पद्मसिंह के यहां भोली के मुजरे ने इस विश्वास को भी ~~धराश~~ धराशायी कर दिया --" आज तक मैं समझती थी कि कुचरित्र लोग ही इन रमणियों पर जान देते हैं, किन्तु आज मालूम हुआ कि उनकी पहुंच सुचरित्र और सदाचारशील पुरुषों में भी कम नहीं है।"[2] इस प्रकार सुमन के विचार क्रमशः परिवर्तित हो रहे थे, तभी उसके पति के असभ्य व अयोग्य व्यवहार ने उस पर कुठाराघात किया। पति द्वारा त्याग दिए जाने पर हमारा सभ्य, कुलीन, उच्च (?) समाज उसे पनाह नहीं देता। पनाह मिलता है भोली के कोठे पर। कैसी विडंबना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धन द्वारा प्राप्त सुख नहीं, वरन् धन द्वारा प्राप्त मान-सम्मान व प्रतिष्ठा सच्चरित्र व्यक्ति को भी पतनोन्मुखी करती है। पुरुष अप्रमाणिक, घूसखोर, चोर व मक्कार बनता है, तो स्त्री वेश्या बनती है। वेश्या-समाज का निर्माण भी इन्हीं कारणों से हुआ है। कुंअर अनिरुद्धसिंह के शब्दों में मानो प्रेमचन्द ही कह रहे हैं --" हमारे शिक्षित भाइयों की ही बदौलत दालमण्डी आबाद है, चौक में चहल-पहल है, चकलों में ~~र~~ रौनक है। यह मीना बाज़ार हम लोगों ने ही सजाया है, ये चिड़ियां हम लोगों ने ही फांसी हैं, ये कठपुतलियां हमने ही बनायी हैं। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहां दालमण्डी क्यों न आबाद हो? हराम का धन ~~ब~~ हरामकारी के सिवा और कहां जा सकता है? जिस दिन नज़राना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अन्त होगा, उसी दिन दालमण्डी उजड़ जाएगी।"[3]

इसके अतिरिक्त मध्यवर्गीय झूठी शान, तत्कालीन हिन्दी साहित्य की दरिद्रता, खोखले धर्माधिकारी व महन्त, हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष, हिन्दुस्तानियों की गुलाम मनोदशा, भ्रष्टाचारी नेता जैसी अनेकानेक समस्याओं को भी प्रेमचन्दजी ने उठाया है।

---

१. 'सेवासदन' : पृ० २५। २. वही : पृ० ३४। ३. वही : पृ० १९२।

(ख) व्यंग्यात्मकता : उपन्यास का प्रारम्भ ही एक व्यंग्यात्मक वाक्य से हुआ है -- 'पश्चाताप के कड़वे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दरोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।'[1] दहेज-प्रथा पर भी ऐसी ही चिकोटी काटी है -- 'एक सज्जन ने कहा-' महाशय मैं स्वयं इस कुप्रथा का जानी दुश्मन हूँ : लेकिन करूं क्या, अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया, दो हजार रूपये केवल दहेज में देने पड़े, दो हजार और खाने-पीने में खर्चने पड़े, आप ही कहिए, यह कमी कैसे पूरी हो ?' दूसरे महाशय इनसे अधिक नीतिकुशल थे। बोले-- दारोगाजी मैंने लड़के को पाला है, सहस्त्रों रूपये उसकी पढ़ाई में खर्च किए हैं। आपकी लड़की को इससे उतना ही लाभ होगा, जितना मेरे लड़के को। तो आप ही न्याय कीजिए कि यह सारा भार मैं अकेला कैसे उठा सकता हूँ ?'[2]

भारतीयों की गुलाम मनोदशा पर भी विट्ठलदास के द्वारा यह कहलवाया है -- 'आपकी अंग्रेजी शिक्षा ने आप को ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान् किसी विषय के गुण-दोष न प्रकट करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते है। आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेट्स्की और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है। आप में अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है। अभी तक आप तान्त्रिक विद्या की बात भी न पूछते थे। अब जो यूरोपीय विद्वानों ने उसका रहस्य खोलना शुरू किया, तो आप को अब तन्त्रों में गुण दिखाई देते हैं। यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गई-गुजरी है। आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में। अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृशना अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं'।[3] इस प्रकार लेखक स्थान-स्थान पर हमारी बौद्धिकता पर व्यंग्य के सबल अस्त्र द्वारा प्रहार करता चलता है।

---

१. 'सेवासदन' : पृ० ५।

२. वही : पृ० ७। ३. वही : पृ० १७७।

(ग) कथा-संघटन व चरित्र-चित्रण : जहाँ प्रेमचन्दजी ने अनेक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है, वहाँ कथा-संघटन में थोड़ी शिथिलता भी आयी है, यथा-- सेवासदन, प्रेमाश्रम आदि में। वस्तु-कसाव की दृष्टि से निर्मला, गबन आदि उल्लेखनीय हैं। अपनी पूर्व रचनाओं की अपेक्षा चरित्र-चित्रण में उन्होंने अद्भुत-क कौशल दिखाया है, परन्तु आदर्शवादी दृष्टि के कारण कहीं-कहीं अवास्तविकता खटकती है। मदनसिंह एक अक्खड़ देहाती है पर उनके मुंह से तर्क-पूर्ण बातें सुनकर आश्चर्य होता है। विट्ठलदास को लेखक ने वक्तृत्व में अकुशल बताया है, परन्तु उसका उपर्युक्त कथन उसकी वक्तृत्व शक्ति का द्योतक है। पद्मसिंह या कुंवर अनिरुद्धसिंह के मुंह में यह कथन शायद अधिक समुचित लगता। सदन के चरित्रांकन में लेखक असावधान दिखायी पड़ता है। जैसे पृ० २०६ पर की मोहन-माला अचानक कहाँ से आ गयी ? उसी प्रकार मदनसिंह की दो लड़कियों का उल्लेख पृ० २३५ पर पहली बार मिलता है। पृ० ४५ पर जहाँ मदनसिंह के परिवार का वर्णन है, वहाँ इनका कहीं उल्लेख नहीं है। वेश्या-समस्या का समाधान भी लेखक ने आदर्शवादी ढंग से सेवासदन की स्थापना द्वारा किया है। अपनी इन त्रुटियों के बावजूद 'सेवासदन' का महत्व अक्षुण्ण है क्योंकि समाज की नाड़ी को लेखक ने ठीक तरह से पकड़ा है। डॉ० गंगाप्रसाद विमल ने उचित ही कहा है ---"'समकालीन भारतीय जन-मानस' की चेतना का वहन करने-वाला समर्थ उपन्यास 'सेवासदन' ही है। 'सेवासदन' से यथार्थ-चित्रण की वह यात्रा शुरू हो जाती है, जिसकी उपलब्धि 'गोदान' के यथार्थवादी रूपांकन में होतीइ है।"[१]

'प्रेमाश्रम' से 'कर्मभूमि' : प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में निरूपित मुख्य समस्या शोषण की है। अशिक्षा, आर्थिक परतन्त्रता तथा सदियों पुरानी रूढ़ियों के द्वारा होता हुआ नारी का शोषण : अशिक्षा, आपसी फूट, अन्ध विश्वास, रूढ़ियां, पठानी सूद-वाला ऋण, जमींदार, उनके कारिन्दे, महाजन, पुलिस आदि के द्वारा होता हुआ कृषक समाज का शोषण तथा अंग्रेजों और उनके देशी हथकण्डों -- राजा-महाराजा, जमींदार, पूंजीपति -- द्वारा होता हुआ समूचे देश का शोषण --- यों ये तीन प्रकार का शोषण प्रेमचन्द का मुख्य प्रतिपाद्य रहा।

---

१. 'प्रेमचन्द : आज के सन्दर्भ में' : डॉ० गंगाप्रसाद विमल : पृ० १९४।

'प्रेमाश्रम' (१९२० ई०), 'रंगभूमि' (१९२५ ई०), 'कायाकल्प' (१९२६ ई०) 'कर्मभूमि' (१९३२ ई०) प्रभृति उपन्यासों में प्रेमचन्दजी ने विस्तृत कैनवास पर भारतीय समाज के चित्र अंकित किए। 'निर्मला' (१९२६ ई०) नारी जीवन की महान त्रासदी है तो 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' (क्रमश: १९२६ तथा १९३०) क्रमश: 'प्रेमा' तथा 'किस्ना' (१९०७ ; १९०७) का परिवर्द्धित एवं परिमार्जित रूप हैं।

'प्रेमाश्रम' किसानों और जमींदारों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष को रेखांकित करने वाला एक बहु- कथाआयामी उपन्यास है। उसमें ग्रामीण एवं नागरिक जीवन के नाना स्तरों एवं व्यवसायों का तथा उनकी टकराहट का व्यापक चित्रण हुआ है। डॉ० एस० एन० गणेशन के शब्दों में 'भारत की सामान्य जनता का जागरण और अपने हक के लिए लड़ाई भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का एक प्रमुख अंग है। और इस जागरण पर लिखित प्रथम श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में 'प्रेमाश्रम' महत्वपूर्ण रचना है।'[1] प्रेमचन्द के 'सेवासदन'-परवर्ती उपन्यासों के बीज हमें सेवासदन' में ही मिल जाते हैं। मनोहर और बलराज चैतू के ही विकसित रूप हैं जो जुल्म और अन्याय का प्रतिकार करते हैं। इस बृहद् उपन्यास में सदियों से पददलित कृषक समाज, उसकी अज्ञानता, भीरुता, जमींदार और उसके कारिन्दों के अत्याचार तथा इसके समाधानरूप में 'हाजीपुर' जैसे आदर्श ग्राम और उसमें 'प्रेमाश्रम' की स्थापना आदि को चित्रित किया गया है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की स्थापना प्रेमचन्दजी की आदर्शवादिता एवं ~~अतिभावुकता~~ तज्जनित अतिभावुकता के अनुरूप हुई है।

'रंगभूमि' भी प्रेमचन्दजी का ऐसा ही एक बहुवस्तुलक्षी उपन्यास है। महात्मा गांधीजी तथा उनके राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में ही 'रंगभूमि' के कथानक का आयोजन हुआ है। इसमें प्रेमचन्दजी जहां विनयसिंह और सोफिया के प्रेम द्वारा एक प्रगतिशील आयाम प्रस्तुत करते हैं, वहां सूरदास एवं उनके परिवेश की पृष्ठभूमि में महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन को ~~प्रतीक~~ प्रतीकात्मक ढंग से उभारा है। राजा महेन्द्रसिंह के द्वारा प्रेमचन्दजी ने उस वर्ग का भंडा-फोड़ किया है जो एक तरफ तो लोगों की सेवा का दम भरते हैं, पर दूसरी तरफ अंग्रेज ~~हाकिमों~~ हाकिमों की चाटुकारी द्वारा अपनी सत्ता एवं शान को सुरक्षित रखने की चिन्ता में रात-दिन व्यस्त रहते हैं। ताहिर-

अली के रूप में प्रेमचन्दजी का ही आर्थिक एवं पारिवारिक संघर्ष रूपायित हुआ है। कुछ लोगों ने 'रंगभूमि' के सूरदास को महात्मा गांधी का प्रतिरूप माना है, परन्तु वस्तुत: ~~वैम~~ नव जागृत भारतीय जनता के प्रतीक रूप में अधिक उभरकर आते हैं। परन्तु उसके गठन में गांधीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव अवश्य लक्षित किया जा सकता है।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्दजी ने औद्योगीकरण की समस्या को भी उठाया है। (इस समस्या का संकेत प्रेमचन्दजी ने 'सेवासदन' में मदनसिंह के कथन में भी दिया है।) प्रेमचन्दजी नहीं चाहते थे कि देश का किसान मजदूर हो जाय, अत: सूरदास सिगरेट के कारखाने का जी-जान से विरोध करता है। वह सच्चा खिलाड़ी है। ' यह संसार उसके लिए रंगभूमि है। रंगभूमि में, खेल में हार-जीत तो लगी रहती है, हारने में विषाद क्या और जीतने में उल्लास क्या ? खेलना अपना धर्म है, सच्चाई और ईमानदारी से खेलनेवाला अपना कार्य करता चलता है। हार-जीत की चिन्ता करना उसका कार्य नहीं। अधर्म से खेलकर जीत भी गये तो क्या ? हो गया और धर्मसे खेलकर हार भी गये तो क्या ? खेलनेवालों की परम्परा तो लगी रहेगी। कभी-न-कभी तो जीतेंगे ही।[१] सूरदास के इन शब्दों में हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के सूर ही बोल रहे हैं। संक्षेप में 'रंगभूमि' तत्कालीन भारतीयसामाजिक-राजनीतिक परिवेश को व्याख्यायित करने वाला प्रेमचन्दजी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।

'कायाकल्प' प्रेमचन्दजी की मुख्य साहित्य-चिन्ता से अलग हटा हुआ उपन्यास जान पड़ता है। रानी देवप्रिया और उसके पति के पूर्व-जन्मों का वृतान्त किसी तिलस्मी कहानी से कम नहीं लगते। प्रेमचन्दजी जैसे प्रखर बुद्धिवादी लेखक की कलम से ऐसे उपन्यास का आना एक आश्चर्य की बात तो है ही। ' शायद भारत के हिन्दू समाज में रूढ़मूल अन्धविश्वासों और मूढ़ परम्पराओं को दिखाना ही प्रेमचन्दजी का ध्येय रहा हो।[२] परन्तु ऐसे ~~नितान्त~~- नितान्त

---

१. 'रंगभूमि' : प्रेमचन्द : पृ० ५५८।

२. ' हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' : डॉ० गणेशन : पृ० ६८।

वायवी उपन्यास में भी प्रेमचन्दजी ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या को लिया है जो उस समय की एक ज्वलन्त समस्या थी जिसके कारण हिन्दू-मुस्लिम अपने राष्ट्रीय हितों को पीछे धकेलकर एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते थे। इस समस्या का भी बीज बपन 'सेवासदन' में दृष्टिगत होता है।[१]

'कर्मभूमि' प्रेमचन्दजी के प्रौढ़-काल की रचना है।इसका कथानक राजनीतिक आन्दोलनों के तानों-बानों से बुना गया है। अछूतोद्धार,जमींदार-किसान संघर्ष, सूदखोरी आदि प्रश्न भी जुड़ते गए हैं। प्रेमशंकर (प्रेमाश्रम) के 'प्रेमाश्रम' की भांति यहां डॉ० शान्तिकुमार का 'सेवाश्रम' मिलता है। जिससे सारे नागरिक आन्दोलन चलते हैं। ग्रामीण लोगों का नेतृत्व अमरकान्त लेता है। डॉ० गणेशन के शब्दों में,' कथानक तथा पात्रों के जीवन-वृत्तों के साथ-साथ इसमें चित्रित वातावरण भी कम महत्व का नहीं है। अत्यन्त विशाल पटभूमि का उपयोग करने के कारण कथानक में तथा के-पात्रों के चरित्रों के क्रमिक विकास में थोड़ी-बहुत शिथिलता आयी है: किन्तु इसी कारण से देश के तत्कालीन वातावरण को यथार्थ रूप में उपस्थित करने में लेखक को विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है।'[२]

'निर्मला' में लेखक ने नारी जीवन को नरक बनाने वाली एक भयंकर समस्या -- दहेज-प्रथा तथा उसके फलस्वरूप अनमेल विवाह को--को चित्रित किया है। दहेज-प्रथा हिन्दू समाज का महान कलंक है। इसके कारण लाडों में पली अरमानभरी कोमल कलिका-सी ~~षोडशवर्षीया~~ षोडशवर्षीया

---

१. दृष्टव्य : (क) ' हाशीम हाजी --- बिरादराने वतन की यह नई चाल देखी आप लोगों ने देखी ? वल्लाह उनको खूब सूझती है। काली घूंसे मारना कोई इनसे सीख लें।' : सेवासदन : पृ० १२४।

(ख) ' अबुलवफा --- आलिहाजा मुझे रात को आफताब का यकीन हो सकता है, पर हिन्दुओं की नेकनीयत पर यकीन नहीं हो सकता।' : उपरिवत् : पृ० १२८।

२. ' हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन ' : डॉ० गणेशन : पृ० ६६।

निर्मला की शादी तीन बच्चों के अधेड़ पिता मुंशी तोताराम से हो जाती है जो कामशास्त्र की पुस्तकों को पढ़कर तथा मित्रों की सलाह से छैला बनने के प्रयत्न में हास्यास्पद बन जाते हैं। उनका बड़ा लड़का मंसाराम निर्मला का हम-उम्र है। शंका-कुशंका तथा क्लेश के वातावरण में दो रिवार नष्ट हो जाते हैं। 'आंचल में दूध और आंखों में पानी' वाली नारी हमें 'निर्मला' के रूप में मिलती है। 'सुमन' और 'निर्मला' एक ही समस्या का शिकार है, किन्तु दोनों की परिणति भिन्न ढंग से हुई है। समस्या की एकोन्मुखता तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण 'निर्मला' प्रेमचन्दजी का एक सुसंगठित उपन्यास है।

वस्तु-गठन की दृष्टि से गबन भी उल्लेखनीय है। स्त्रियों के आभूषण-प्रेम, मध्यवर्गीय झूठी शान तथा पुलिस के हथकण्डों का बड़ा ही सुन्दर दिग्दर्शन इसमें है। 'मंगलसूत्र' 'गोदान' के के बाद का अपूर्ण उपन्यास है जिसमें प्रेमचन्दजी ने देवकुमार नामक एक साहित्य-कार के जीवन को अंकित करनेका उपक्रम रखा था। 'देवकुमार में प्रेमचन्दजी ही प्रतिमूर्ति मिलती है जो अपनी आदर्शवादिता में घर के सभी सदस्यों को असंतुष्ट करते हैं, परन्तु दुनिया की लूट-खसोट से आक्रान्त उनका मन शनैः शनैः साम्यवाद की ओर झुकने लगता है और उन्हें पवश्वास हो जाता है कि जब तक संसार में समानता नहीं आयेगी तब तक न तो मानव ही उन्नति कर सकता है और न मानवता ही पनप सकती है। इस प्रकार यहां तक आते-आते प्रेमचन्द पूर्ण रूप से बदल गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोदान तक अनेक प्रयोग करते हुए प्रेमचन्दजी जिन वास्तविकताओं पर पहुंचे हैं, उन्होंने जिन तथ्यों को प्राप्त किया है उनका संकेत इस अपूर्ण उपन्यास में देने का प्रयास किया है। अगर उनका यह उपन्यास पूर्ण हो जाता तो बहुत से तथ्य हमारे सामने आते।'[1]

गोदान : 'गोदान' (सन् १९३६ ई०) प्रेमचन्दजी की प्रौढ़तम रचना है। सामाजिक शोषण के खिलाफ जो आवाज़ 'सेवासदन' से उठी थी, 'गोदान' में वह और भी व्यापक फलक को समेटकर अपनी बुलन्दियों पर पहुंच गई है। प्रेमचन्दजी की मृत्यु पर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था --'एक रत्न मिला था तुमको, तुमने खो दिया।'[2] हिन्दीवालों ने उस रत्न को तो खो दिया, पर उस रत्न की ओर से मिला

१. प्रेमचन्द और उनकी उपन्यास कला : डा० रघुवर ~~दयाल वार्ष्णेय~~ : पृ १५६
२. 'कलम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० ६५२।

हुआ 'गोदान' रूपी रत्न तो हिन्दी साहित्य की अमूल्य-निधि है।

हमारे यहां एक विचित्रता यह भी है कि 'नार' और 'किसान' को जगज्जननी और जगततात के रूप में खूब नचाया गया है और फिर इनहीं दो की दुर्गति में भी कोई कमी-बेसी नहीं रखी गई है। प्रेमचन्दजी ने दोनों को लिया -- 'निर्मला' नारी जीवन की ट्रेजड़ी है तो 'गोदान' कृषक जीवन की। 'गोदान' में हम देखते हैं कि "पटवारी, जमींदार के चपरासी, कारिन्दे, थानेदार, कान्सटेबल, कानूनगो, तहसीलदार, डिप्टी मजिस्ट्रेट, कलक्टर, कमिश्नर, दूसरे शब्दों में अंग्रेजों की सारी प्रशासनिक मशीनरी किसान के पीछे पड़ी हुई थी। यहां तक कि डाक्टर, इन्स्पेक्टर, विभिन्न महकमों के हाकिम, पादरी सभी किसान से रसद लेते थे। जमींदार जब किसी बड़े अफसर को दावत देता था तो उसका भार भी किसानों पर ही पड़ता था।"[१]

ऋण की समस्या भारतीय कृषक समाज को लगा हुआ वह अभिशाप है जिसने उसके जीवन के सारे तत्वों को चूस डाला है। डॉ० रामविलास शर्मा के मतानुसार यह ऋण की समस्या ही 'गोदान' की मुख्य समस्या है।[२] जिन दिनों में 'गोदान' लिखा जा रहा था, प्रेमचन्दजी स्वयं गले तक ऋण में डूबे हुए थे। अतः होरी की समस्या एक तरह से प्रेमचन्दजी की समस्या है।

'रंगभूमि' की तरह यहां भी प्रेमचन्दजी ने अपना सारा ध्यान 'होरी' पर ही केन्द्रित किया है और उसके जरिये समूचे कृषक-समाज को प्रतिध्वनित किया है। बृहद् कृषक-समाज ---- जो सदियों से अज्ञान, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, संकीर्णता, असंगठन के कारण अपेक्षाकृत एक बहुत छोटे समुदाय (जमींदार, महाजन, और सरकारी अमलदारों का शोषक वर्ग) के आगे पीसता और फुलसता रहा है और जो अपनी झूठी 'मरजादा' के लिए उनके राक्षसी जबड़ों में अपने-आप पहुंचता रहा है।

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां' : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ० २७।
२. 'प्रेमचन्द और उनका युग' : डॉ० रामविलास शर्मा : पृ० १०१।

'गोदान' में निरूपित ग्रामीण और नागरिक कथा को आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने बेमेल, अनुपयुक्त और अनावश्यक माना है।[1] परन्तु 'गोदान' को आद्यन्त देख जाने से हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता। बल्कि नागरिक कथा के अभाव में भारतीय किसान का सारा चित्र ही कदाचित् न उभरता। प्रेमचन्दजी एक युग-द्रष्टा कलाकार थे और उन्होंने भलीभांति देख लिया था कि किसान का शोषण केवल जमींदारों द्वारा ही नहीं होता, प्रत्युत एक पूरी मशीनरी है जो पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। राय साहब, खन्ना और तंखा इसी मशीनरी के विभिन्न पुर्जे हैं। शोषण ऊपर से नीचे की ओर होता है। किसान और मजदूर सबसे नीचे है, जो बेचारे दब जाते हैं। जैसे आजकल एक देश की राजनीति को समझने के लिए विश्व की राजनीति को भी ध्यान में रखना पड़ता है, उसी प्रकार तत्कालीन (और आज के भी) भारतीय कृषक-समाज का चित्र नागरिक-चित्रण के अभाव में अपूर्ण रहता।

दूसरा प्रश्न आचार्यजी ने 'गोदान' के यथार्थवादी' रचना होने के सम्बन्ध में उठाया है और उसे अन्ततः आदर्शवादी ही सिद्ध किया है।[2]

परन्तु प्रेमचन्दजी के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उनके साहित्य में क्रमशः प्रगति दिखती है। प्रारम्भ में वे आदर्शवादी थे, जैसे प्रत्येक अभाव पीड़ित युवक होता है, परन्तु बाद में

---

१. 'आधुनिक साहित्य' : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : पृ० १९४ से १९७।

२. द्रष्टव्य : 'गोदान में प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी चित्रण किया है और किसान की विवशतापूर्ण स्थिति को दिखाकर उपन्यास की समाप्ति की गयी है। गोदान में समस्या के निर्णय का कोई प्रयत्न नहीं है, दूसरे शब्दों में उसमें प्रेमचन्दजी की ध्येयवादिता प्रत्यक्ष होकर नहीं आयी है : परन्तु चरित्र-निर्माण और कथानक के विकास-क्रम में प्रेमचन्दजी भारतीय किसान के आदर्श स्वरूप को भूले नहीं है। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओं और संकटों के रहते हुए भी अपने मूल आदर्श का विस्मरण नहीं कर सका है। वह अन्ततः आदर्शवादी है।' :उपरिवत् :पृ० १९३।

क्रमश: आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से होते हुए यथार्थवाद की ओर अग्रसर हुए हैं। 'होरी' का करुणान्त ही उनके यथार्थवादी होने की घोषणा करता है। जिन्दगीभर 'मरजादा' के लिए जूझने वाले होरी का गोदान बीस आनों से करना पड़ता है। यदि आखिर में प्रेमचन्दजी आदर्शवादी रहते तो किसी संस्था या सहकारी सोसायटी के द्वारा 'होरी' की आर्थिक अवस्था में सुधार लाने की चेष्टा करते। परन्तु प्रेमचन्दजी ने तो सच्चा यथार्थ रखा है। होरी के रूप में मानवता दम तोड़ रही है और दातादीन के रूप में दानवता अन्तिम आखिरी टैक्स लेने के लिए उस समय भी मौजूद है। 'होरी' के रूप में प्रेमचन्दजी ने उस समय तक के एक औसत किसान का चित्र खींचा है -- वह वैसा जैसा भी है। इससे विपरीत यदि वे उसके अधिक प्रगतिशील बताते तो वह चित्र है 'खोटा' सिद्ध होता। आखिर यथार्थ है क्या ? समाज में स्थित व्यक्ति का यथातथ्य -तद्वत् चित्रण या किसी वाद-से-अनुप्रेरित के आरोपण से निर्मित व्यक्ति -चित्रण ? प्रेमचन्दजी ने होरी का तद्वत् चित्रण किया है, अत: वे पूर्णतया यथार्थवादी सिद्ध होते हैं। किसान की नयी पीढ़ी के तेवर हमें चैतू (सेवासदन), बलराज (प्रेमाश्रम) और गोबर में मिलते हैं।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान 'गोदान' के बदले हुए स्वर को रेखांकित करते हुए लिखते हैं ---' यह उपन्यास केवल होरी का 'गोदान' नहीं है, प्रेमचन्द की आस्था का भी 'गोदान' है, सदनों, निकेतनों, आश्रमों में लेखक की आस्था का गोदान है। उनका विश्वास सुधारवादी, गांधीवादी समाधान से उठ गया है। .... प्रेमचन्द की संवेदना नया मोड़ लेती है।'[१] परन्तु वस्तुत: प्रेमचन्द की संवेदना का यह मोड़ नया नहीं है। गोदान में हम प्रेमचन्द की मानवतावादी-जनवादी संवेदना का विकसित रूप पाते हैं। 'गोदान' में प्रेमचन्द की विकसित होती हुई यथार्थवादी दृष्टि का चरमोत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है। हम यहां डा० एस० एन० गणेशन से पूर्णतया सहमत है कि ,' अप्रायोगिक आदर्शों, अपरीक्षित सिद्धान्तों, तथा अर्धपरीक्षित वादों से अपने आपको सम्बद्ध रखने के कारण उनके पूर्व-लिखित उपन्यासों में जो विफलताएं या दुर्बलताएं प्रकट हुई थीं, उन सबसे

---

१. 'आज का हिन्दी उपन्यास' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान : पृ० ६-१० ।

बहुत कुछ मुक्त होकर वे यहां जीवन -मात्र को व्यंजित करने वाली यथार्थवादी कला के राजपथ से अग्रसर होते दिखते हैं।.... कथा-कथन की कुशलता, चरित्र-चित्रण की सुचारुता, समस्याओं के अध्ययन की सूक्ष्मता आदि प्रेमचन्द के जितने गुण उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रकट हो चुके थे वे इसमें अधिक निखरे हुए रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं। पटभूमि अधिक विस्तृत हो गयी है, मनोभावों का विश्लेषण अधिक गहरा हो गया है, जीवन की व्याख्या का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित हो गया है, और इस तरह 'गोदान' यथार्थवाद की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से कोसों दूर आगे बढ़ आया है।'[१]

प्रेमचन्दजी की दीर्घदृष्टि ने सुदूर भविष्य की कल्पना कदाचित् कर ली थी, अत: गोदान में शोषकों का एक नया रूप वे ले आये हैं। भेड़िये यहां मेम्ने बनकर आये हैं। उन्होंने देशभक्ति का मुखौटा पहन लिया है। जमींदार राय साहब अमरपालसिंह आन्दोलन में जेल भी हो आये हैं, दूसरी ओर अंग्रेजों के कृपाकांक्षी भी हैं और किसानों को भी चूस रहे हैं -- एक नये अन्दाज़ में कि पता भी न चले। प्रोफेसर मेहता उनका पर्दाफाश करते हुए ठीक ही कहता है --'मानता हूँ, आपका आपके असामियों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव है, मगर प्रश्न यह है कि उसमें स्वार्थ है या नहीं। इसका एक कारण क्या यह नहीं कि हो सकता कि मद्धिम आंच में भोजन स्वादिष्ट पकता है। गुड़ से मारने वाला ज़हर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं सफल हो सकता है। मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि हम या तो साम्यवादी है या नहीं है। है तो उसका व्यवहार करें, नहीं है तो बकना छोड़ दें।'[२] यहाँ मेहता के रूप में मानो प्रेमचन्द की आत्मा ही बोल रही है।

राय साहब का दूसरा आलोचक गोबर भी है। वह राय साहब के दान-धर्म के सम्बन्ध में कहता है --'नहीं, किसानों के बल पर और मजदूरों के बल पर। यह पाप का धन पचे कैसे? इसलिए दान-धर्म करना पड़ता है... एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जाए।'[3] मिस्टर खन्ना, तंखा, राय साहब

---

१. 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' : डॉ० गणेशन : पृ० ६६-७० ।

२. 'गोदान' : प्रेमचन्द : पृ० ५७ ।

३. वही : पृ० २३ ।

यह सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। उनका काम है कमजोरों को चूसना। और इन्हीं लोगों के हाथों में आगे चलकर राजनीति की बागडोर आयेगी, यह प्रेमचन्दजी की पैनी दृष्टि ने देख लिया था।

'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने ब्रिटिशकालीन भारत के आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त उस समय तक की सारी सामाजिक प्रवृत्तियों का भी सुन्दर दिग्दर्शन कराया है। जातिवाद तथा बिरादरी के नाम से समाज आतंकित था। घर में बच्चों को खाने के लिए भले ही कुछ भी न रहे, बिरादरी को 'डांड' जरूर भरना चाहिए। ब्राह्मण एक तरफ तो कुलीनता की डींग मारते और रामनाम की खेती काटते थे पर दूसरी तरफ किसी चमारिन के साथ सोने में उनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता था। मातादीन और सिलिया वाले प्रसंग में सिलिया की मां का यह ~~कथन~~ कथन इसी व्यंग्य को रेखांकित करता है --' उसके साथ सोओगे : लेकिन उसके हाथ का पानी न पिओगे।'[1] सिलिया के बाप हरखू का व्यंग्य भी खूब चोटदार है ---' तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो। हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धरम हमें दो।'[2]

बदलते हुए जमाने के तेवरों का तीखापन हमें ऐसे ही प्रसंगों में मिलता है। हरखू, गोबर, धनिया आदि पात्रों में उच्चवर्गीय लोगों द्वारा होते हुए अन्याय की तिक्तता मिलती है। धनिया तो प्रेमचन्द के नारी पात्रों में अन्यतम है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'गोदान' सन् १९३६ तक के भारतीय-जीवन का ऐसा चित्र है जिसे देखकर भविष्य में आनेवाले जमाने का चित्र हमारी कल्पना में सहज ही उभरता है। 'गोदान' के कलाकार की सफलता का रहस्य भी यही है।

---

१. 'गोदान' : प्रेमचन्द : पृ० २५३।
२. वही : पृ० २५३।

प्रेमचन्द की विशेषताएं

(१) सोद्देश्यता : प्रेमचन्द साहित्य की एक प्रधान विशेषता उसकी सोद्देश्यता है। बिना उद्देश्य के न उन्होंने जीवन में कुछ किया है, न साहित्य में कुछ लिखा है। नियमित छ: सात घण्टे कलम की मजदूरी करने वाला साहित्यकार निरुद्देश्य साहित्य का प्रणेता कैसे हो सकता है? केवल मनोरंजन उनके उपन्यासों का उद्देश्य कभी नहीं रहा। उन्होंने सदैव जीवनाभिमुख साहित्य का पक्ष लिया।

(२) मानवीय संवेदना : उपन्यास में मानव-चरित्र का चित्र प्रेमचन्द का काम्य रहा है। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में 'पात्र' मिलते हैं, मानव-चरित्र नहीं। मानवीय संवेदना प्रेमचन्द साहित्य का प्रधान स्वर है। इसके सम्बन्ध में अज्ञेय लिखते हैं: 'साहित्यकार की संवेदना को, मानवीय चेतना को, हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है।....प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा सार्थक उसी दिन होगा जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो। उसके बाद ही हम यह कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्व ऐतिहासिक महत्व है। तब तक वह हमारे बीच में हैं, पुराने पड़कर भी समर्थ हैं, साहित्य-संस्कार में गुरुस्थानीय हैं और उनसे हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।'[१] और यह मानवीय संवेदना जीवन के सूक्ष्म अध्ययन से आयी है।

(३) मनोवैज्ञानिकता : प्रेमचन्द पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव का आरोप लगाया जाता है, परन्तु उन्होंने जिस प्रकार के उपन्यासों का प्रणयन किया है, उसके लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिकता उन में है। 'मानव-चरित्र' का बड़ा ही सूक्ष्म ब्यौरा वे दे सकते हैं। व्यक्ति-चरित्र का तब तक विकास नहीं हुआ था। यहाँ डॉ० राम दरश मिश्र का यह मत ध्यातव्य है --- 'एक बात ध्यान देने की होती है कि अचेतन मन की

---

१. 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' : अज्ञेय : पृ० ६६।

जितनी गहरी पर्तें दुहरा जीवन जीनेवाले पढ़े-लिखे, सभ्य दीखने वाले लोगों में होती हैं उतनी निश्छल, सहज जीवन जीने वाले तथा कम पढ़े-लिखे लोगों में नहीं होती।[१] और अधिकांशत: प्रेमचन्द की पात्र-सृष्टि में यही सहज जीवन जीने वाले लोग आते हैं। प्रेमचन्द का मनोविज्ञान से सम्बन्धित ज्ञान एक विशेषज्ञ का नहीं, बल्कि एक मां का है, जो बिना शास्त्रों को पढ़े बच्चे के मन को ताड़ लेती है।

(४) आदर्श से यथार्थ की ओर क्रमश: विकास : प्रेमचन्द के साहित्य की विकास-यात्रा आदर्श से यथार्थ की ओर हुई है। प्रारम्भ में गांधी और टाल्सटाय से प्रभावित प्रेमचन्द बाद में मार्क्स और गोर्की तथा एलेक्जान्डर कुप्रिन से प्रभावीत दीखते है। 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' में तो पूर्णतया यथार्थवादी हो गये हैं। 'सर्वहारा वर्ग का लेखक साम्यवाद का विरोधी कैसे हो सकता है। प्रेमचन्द की आखिरी कृतियां, 'हंस' और 'जागरण' के सन् '३३ से '३६ तक के लेख, आदि को पढ़ जाने से प्रेमचन्द की इस विकसित विचारधारा का ज्ञान होता है।

(५) समस्याओं की सूक्ष्म पकड़ : पूर्ववर्ती विवेचन में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि समस्याओं की जितनी सूक्ष्म पकड़ प्रेमचन्दजी की है, उतनी किसी समाजशास्त्री की भी नहीं हो सकती। उनके उपन्यासों द्वारा हम समाज की नाड़ी को बराबर पकड़ सकते हैं। अपने जमाने की ऐसी कोई समस्या न होगी जो प्रेमचन्दजी की सूक्ष्म दृष्टि से अलिप्त रही हो।

(६) राष्ट्रीयता : प्रारम्भ में प्रेमचन्दजी सीमित सामाजिक परिवेश को चित्रित करते रहे : परन्तु 'सेवासदन' के बाद उनकी बहुमुखी प्रतिभा राष्ट्रीय प्रश्नों को छूने लगी। 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में उन्होंने अनेक राष्ट्रीय प्रश्नों को स्पर्श किया है।

---

१. 'हिन्दी-उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा' : डॉ० राम दरश मिश्र : पृ० ५७।

(७) <u>आसन्न लेखकत्व</u> :[१] प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में लेखक की उपस्थिति हमें मिलती है। प्रेमचन्दोत्तर काल में कुछ उपन्यासकारों ने अनासन्न लेखकत्व को बढ़ावा दिया है। वस्तुत: प्रेमचन्दजी जिस प्रकार के समस्यामूलक उपन्यासों को लेकर चले हैं, उसमें लेखक का विश्लेषण कई बार आवश्यक भी हो जाता है।

त्रुटियाँ

(१) <u>उपदेशक वृत्ति</u> : प्रेमचन्दजी की औपन्यासिक कला की सबसे कमजोर कड़ी उनकी उपदेशक वृत्ति है, पर इस पर वे क्रमश: नियन्त्रण पाते गए हैं। स्वयं प्रेमचन्दजी अपनी इस कमी से परिचित थे। ३ सितम्बर सन् १९२९ में सब्बरवालजी को लिखे गए एक पत्र में इसकी कुछ झलक मिलती है --- 'इधर माधुरी और 'विशाल भारत' में मेरी जो कहानियां छपी हैं उनमें से कोई आपको अच्छी लगी ? हो सकता है कि उनकी उद्देश्यात्मकता आपको अच्छी न लगे, लेकिन जब तक हिन्दुस्तान विदेशी जुए के नीचे पड़ा कराह रहा है वह कला के उच्चतम शिखरों पर नहीं पहुँच सकता। यहीं पर एक गुलाम देश और एक आज़ाद देश के साहित्य में अन्तर आ जाता है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक स्थितियां हमको विवश करती हैं कि हम जब भी मौका पायें कुछ शिक्षा दें।'[२]

(२) <u>आरोपित आदर्शवाद</u> : प्रारम्भ में प्रेमचन्दजी इस कमी के खूब शिकार हुए, बाद में क्रमश: इसकी नागचूड़ से मुक्त होते गए। वस्तुत: ऐसा युवा सुलभ अतिभावुकता के कारण होता है। उनकी इस कमी की बड़ी कटु आलोचना आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में की थी -- 'बड़े-बड़े गुरुघण्टाल भी, जो जीवन भर शोषणों का व्यापार करते रहे हैं, अपने पुराने पापों को झटककर छोड़ बैठते हैं।'[३] इससे औपन्यासिक कला को बड़ा व्याघात पहुँचता है।

---

१. देखिए: 'नये उपन्यास - स्वरूप और तत्व': पृ. १४-१५।

२. 'कलम का सिपाही' : अमृतराय : पृ० ४१९।

३. 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन': आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : पृ० ६६।

(३) आकस्मिक घटनाएं : जिन्दगी में बहुत-सी चीजें आकस्मिक रूप से होती हैं : परन्तु उपन्यास में आकस्मिक घटनाओं का आधिक्य उसकी विश्वसनीयता को कम कर देता है। एक और बहुत बड़ा दोष उनमें यह पाया जाता है कि जब कुछ पात्रों को वे संभाल नहीं पाते तो मृत्यु और आत्महत्या का सहारा लेते हैं। उदाहरणार्थ : 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता का अभाव : उपन्यास की पात्र-सृष्टि में लेखक का ताटस्थ्य स्रष्टा के गौरव के अनुरूपप- अनुरूप होना चाहिए। स्रष्टा यदि उन पर हावी हो जाय तो पात्र कठ-पुतली से प्रतीत होते हैं। प्रारम्भ में प्रेमचन्दजी में इस दोष का आधिक्य मिलता है, पर बाद में वे इससे मुक्त होते गए हैं।

परन्तु ये कुछ त्रुटियाँ उनकी महान् औपन्यासिक देन को देखते हुए चन्द्र-कलंक के समान लगती हैं। प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी का उपन्यास साहित्य बंगला, अंग्रेजी, मराठी आदि से कुछ ग्रहण करता था, प्रेमचन्द के बाद वह कुछ देने की स्थिति में भी पहुँच सका, यह उनकी हिन्दी को महान देन है।

अन्य उपान्यासकार : इस युग के अन्य उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, जयशंकर प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, राजा राधिका रमण प्रसादसिंह, वृन्दावन लाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सियारामशरण गुप्त, गोविन्दवल्लभ पन्त, राजेश्वरप्रसाद, धनीराम प्रेम, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, श्रीनाथसिंह, उषादेवी मित्रा, शिवरानी देवी, तेजरानी दीक्षित, चन्द्रशेखर शास्त्री, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि मुख्य हैं। जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द जोशी तथा भगवतीचरण वर्मा आदि कुछ लेखक तो अभी अपने प्रारम्भिक कृतित्व में ही थे। उनकी कला का विकास तो प्रेमचन्दोत्तर युग में ही हुआ। प्रेमचन्द और उनके सामाजिक उपन्यासों का जादू कुछ ऐसा रहा कि वृन्दावनलाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखक जो बाद में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में स्थापित हुए, उन्होंने भी कुछ सामाजिक उपन्यास दिए, वैसे ऐतिहासिक प्रवृत्तिका संकेत उनमें अवश्य मिल जाता है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' प्रेमचन्द स्कूल के उपन्यासकार हैं। विवेच्य काल में उनके 'माँ' (१६२६ ई०) और 'भिखारिणी' (१६२६ ई) यह दो उपन्यास मिलते हैं जो आदर्शवादी दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। बाबू गुलाबराय के अनुसार 'कौशिक' जी निम्न कोटि के पात्रों में, जैसे भिखारियों में मानवता के दर्शन कराने में सिद्धहस्त हैं- थे।'[1] 'भिखारिणी' में जस्सो जैसी निम्न कोटि की स्त्री में उच्च मानवीय आदर्शों की स्थापना करके वे मानो सिद्ध करते हैं कि भावों की उच्चता पर उच्च वर्ग का ही एकाधिकार नहीं है।' 'माँ' में दो माताओं (सुलोचना तथा सावित्री) द्वारा अपने-अपने पुत्रों पर पड़े हुए प्रभावों की तुलना में है।'[2] इसका विषय-वस्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अधिक अनुकूल है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' को डॉ० सुरेश सिनहा अति-यथार्थवादी उपन्यासकार मानते हैं,[3] परन्तु ' वस्तुत: उग्र का व्यक्तित्व इतना विशृंखल और विस्फोटक रहा है कि उसे किसी भी वाद' में सम्मिलित करना अनुचित है क्यों कि 'वाद' के लिए किसी न किसी प्रकार की निष्ठा और स्थिरता आवश्यक होती है। पर उग्र सन् १६६७ में अपने निधन के कुछ पहले तक निरन्तर विचरणशील और अस्थिर रहे। उनका जीवन सदैव उबड़-खाबड़ भूमियों पर चलता रहा। नौटंकी, नाटक-मण्डली, फिल्म-कंपनी, साहित्य-सम्मेलन, पत्रकार-जगत और जेल तक उनका विस्तार रहा। यदि इस गतिशीलता में वे अपने सृजनात्मक व्यक्तित्व को अपनी भौतिक चर्या से तटस्थ रखकर रचना कर सकते तो वे अत्यन्त सफल विद्रोही रचना दे पाते क्योंकि उन्हें व्यंग्य और गद्य-शैली पर सहज अधिकार प्राप्त था। पर उन्होंने अपनी प्रतिभा को जुटाने का कोई प्रयत्न न किया और वे एक अलीक व्यक्तित्व बनकर रह गए।'[4]

'घण्टा' (१६१६ ई०) उनका प्रथम उपन्यास है जो अद्भुत घटनाओं से युक्त है। उसका नायक मन्दिर का एक घण्टा है जो मनुष्य के ~~कुकर~~ कुकर्मों को पहचान लेता है। विवेच्य काल में उनके अन्य चार उपन्यास मिलते हैं --चन्द

---

१. 'काव्य के रूप' : डॉ० गुलाबराय : पृ० ८२।

२. वही : पृ० ८३।

३. 'हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास' : डॉ० सुरेश सिनहा : पृ० १६३।

४. 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' : डॉ० भारत भूषण अग्रवाल : पृ० ६४।

हसीनों के खतूत` (१९२३ ई०), `दिल्ली का दलाल` (१९२७ ई०), `बुधुआ की बेटी` (१९२८ ई०) और `शराबी` (१९३० ई०)। `दिल्ली का दलाल` नारियों के अवैध व्यापार से सम्बन्धित है तो `शराबी` में शराब की लत के दुष्परिणामों को चित्रित किया गया है। `चन्द हसीनों के खतूत` शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पत्रात्मक शैली में लिखा गया यह हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। इसमें नर्गिस और मुरारीकृष्ण के अंतरधर्मीय प्रेम का चित्रण लेखक ने किया है। `बुधुआ की बेटी` मनोवैज्ञानिक यथार्थ की सम्भावना लिए हुए है। बुधुआ की बेटी रधिया भंगिन अनिंद्य सुन्दरी है। घनश्याम द्वारा प्रवंचित होकर वह समूचे पुरुष-वर्ग को अपना शत्रु मान लेती है और पुरुषों को अपने प्रेम-पाश में फाँसकर उन्हें पागल और बर्बाद करके प्रतिशोध की अग्नि को शान्त करती है। यही उपन्यास सन् १९५५ ई० में `मनुष्यानन्द` के नाम से प्रकाशित हुआ है।

चतुरसेन शास्त्री का अध्ययन-क्षेत्र प्राचीन भारतीय साहित्य है। विवेच्य काल में उनके `हृदय की परख` (१९१८ ई०), `खवास का ब्याह` (१९२७ ई०), `व्यभिचार` (१९२८ ई०), `हृदय की प्यास` (१९३२ ई०), `अमर अभिलाषा` (१९३३) आदि उपन्यास मिलते हैं। `खवास का ब्याह` पृथ्वीराज रासो की कथा पर आधारित है। शेष उपन्यास नारी-समस्या तथा नारी-आदर्श से सम्बन्धित हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी भी इस काल के एक उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं प्रेमचन्द परवर्ती काल में भी वे बराबर लिखते रहे, परन्तु उनकी कलागत उपलब्धियों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं मिलता। विवेच्य काल में उनकी `प्रेमपथ` (१९२६ ई) `मीठी चुटकी` (१९२७ ई०), `अनाथ पत्नी` (१९२८ ई०), `त्यागमयी` (१९३२), `लालिमा` (१९३४ ई०), `प्रेम-निर्वाह` (१९३४ ई०), `पतिता की साधना` (१९३६) प्रभृति औपन्यासिक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं जिन में प्राय: नारी-समस्याओं का आदर्शात्मक ढंग से चित्रण मिलता है।

औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से नहीं, परन्तु अपने यथातथ्य नग्न चित्रण के लिए ऋषभचरण जैन के उपन्यास उल्लेखनीय हैं। उन्होंने समाज की गंदगी को विशेषत: सैक्स सम्बन्धी समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। `मास्टर साहिब` (१९२७ ई०), `दिल्ली का व्यभिचार` (१९२८), `दिल्ली का कलंक` (१९२८ ई०), `वेश्यापुत्र` (१९२९ ई०), `भाई` (१९३० ई०),

`गदर` (१६३० ई०), `सत्याग्रह` (१६३० ई०), `बुर्कैवाली` (१६३० ई०), `चांदनी रात` (१६३१ ई०), `रहस्यमयी` (१६३१ ई०), `भाग्य` (१६३१ ई०), `मधुकरी` (१६३३ ई०), `पैसे का साथी` (१६३४ ई०), `दुराचार के अड्डे` (१६३६ ई०), `तपोभूमि` (१६३६ ई०), `मन्दिर दीप` (१६३६ ई०) आदि उनके विवेच्य काल के उपन्यास हैं। `तपोभूमि` जैनेन्द्रकुमार के सहलेखन में लिखा गया उपन्यास है।

जयशंकर प्रसाद मूलत: कवि और नाटककार हैं किन्तु `कंकाल` (१६२६ ई०) `तितली` (१६३४ ई०) और `इरावती` (अपूर्ण--१६३७ ई०) के द्वारा उपन्यासकार के रूप में भी अपना सिक्का जमा दिया है। विवेच्य काल में उनकी दो कृतियां आती हैं ---`कंकाल` और `तितली`। `कंकाल` प्रसादजी की एक सफल यथार्थवादी कृति है। प्रेमचन्दजी के अनुसार `गड़े मुर्दे उखाड़ने` वाले प्रसादजी ने इस उपन्यास में अभिजात-वर्ग की बखिया ही उखेड़ दी है। प्रेमचन्द जी ने इसे पढ़ा तो फड़क उठे और मारे खुशी से लिखा --`यह प्रसादजी का पहला ही उपन्यास है पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं जो इसके सामने रक्खे जा सकें।`[१] इसमें अभिजात वर्ग की वर्णसंकरीय सृष्टि का मखौल उड़ाते हुए जाति एवं वर्ण के अहंकार को मिथ्या घोषित किया गया है। `कुछ लोग `कंकाल` को प्रकृतवादी (Naturalistic) उपन्यासकार जोला, फ्लाबेयर तथा मोपासा की कोटि में रखते हैं। किन्तु यह तो प्रकृतवाद को उसके मूल रूप में न समझने का परिणाम है। `कंकाल` यथार्थवादी-समस्यामूलक उपन्यास है जिस में केवल समस्याओं को उठाया गया है, उनका हल नहीं दिया गया है। कला की दृष्टि से यह उच्च कोटि का मानदण्ड माना गया है, जबकि कलाकार अपने उद्देश्य को अधिकाधिक गुप्त और अप्रत्यक्ष रखता है।`[२] परन्तु `तितली` में प्रसादजी का आदर्शवादी रोमाण्टिक दृष्टिकोण मिलता है और ग्रामीण समाज का वास्तविक चित्र नहीं उभर पाता।

प्रेमचन्दजी के समकालीन उपन्यासकारों में प्रतापनारायण श्रीवास्तव का नाम भी उल्लेखनीय है। विवेच्य काल में उन का एक उपन्यास मिलता है -- `विदा` (१६२७ ई०)। `विदा` में शिक्षित मध्यवर्ग के जीवन का अंकन है तथा

---

१. `कलम का सिपाही` : अमृतराय : पृ० ४८६।

२. लेख --`हिन्दी उपन्यास का क्रमिक विकास`: ले० डा० मक्खनलाल शर्मा : `हिन्दी उपन्यास`: सं० सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ० १५८।

विदेशी अनुकरण के विरुद्ध भारतीय मर्यादाओं की प्रतिष्ठा की गई है।

प्रतापनारायणजी की भांति राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह का भी विवेच्य काल में एक उपन्यास मिलता है-- 'तरंग' (१९२१ ई०) -- जो आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। ऋजेश्वरप्रसाद का 'मंच' (१९२८ ई०), घनीराम प्रेम का 'वैश्या का हृदय' (१९३२ ई०) तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'अप्सरा' (१९३१ ई०) वेश्या समस्या पर: तथा श्रीनाथसिंह का 'क्षमा' (१९२५ ई०) और प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' का 'तलाक' (१९३२ इ) अनमेल-विवाह की समस्या पर आधारित उपन्यास हैं। शिवरानी देवी द्वारा प्रणीत 'नारी-हृदय' (१९३२ ई०), उषादेवी मित्रा कृत 'वचन का मोल' (१९३६ ई०) तथा तेजरानी दीक्षित कृत 'हृदय का काँटा' नारी-आदर्श पर आधारित उपन्यास है। चन्द्रशेखर शास्त्री का 'विधवा के पत्र' (१९३३ ई०) विधवा-समस्या पर आधारित उपन्यास है तो गंगा प्रसाद श्रीवास्तव कृत 'गंगा जमुनी' (१९२७ ई०) में समाज की नग्नता का खुलकर वर्णन किया गया है।

गोविन्दवल्लभ पन्त मूलत: नाटककार हैं किन्तु आलोच्य काल में उनके 'प्रतिमा' (१९३४ ई०) और 'मदारी' नामक (१९३५ ई०) नामक उपन्यास मिलते हैं। 'मदारी' में पहाड़ी जीवन का चित्रण है तथा पर्वतराज हिमालय की प्राकृतिक शोभा-सुषमा का बड़ा ही मनोहारी चित्र इसमें उपलब्ध होता है।

सियारामशरण गुप्त भी गांधीवादी-आदर्शवादी कलाकार हैं। प्रेमचन्दजी की भांति उन्होंने भी मध्यवर्ग और निम्नवर्ग को अपनाया है। 'गोद' (१९३३ ई०), और 'अन्तिम आकांक्षा' (१९३४ ई०) उनके विवेच्य काल के दो सामाजिक उपन्यास हैं। 'गोद' में वे काफी उदारमतवादी दीखते हैं और किशोरी की निर्दोषता प्रमाणित हो जाने पर के पश्चात् दयाराम का हृदय-परिवर्तन कराकर उसे स्वीकार करा लेते हैं। 'अन्तिम आकांक्षा' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है तथा रामलाल नामक एक नौकर को उपन्यास का नायक बनाया गया है। अत: इसमें आजकल का जनवादी तत्व सम्मिलित हो गया है। इसमें छुआछूत और संकुचित धार्मिकता पर भी अच्छा व्यंग्य है।[१]

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने 'अप्सरा' के अतिरिक्त 'अलका' (१९३३)

---

१. देखिए: 'काव्य के रूप': बाबू गुलाबराय: पृ० ९४।

और 'निरुपमा' (१९३६ ई०) नामक और दो उपन्यास दिए परन्तु औपन्यासिक विकास की दृष्टि से इनका महत्व अधिक नहीं है।

वृन्दावनलाल वर्मा का कृतित्व भी प्रेमचन्द युग से शुरू हो जाता है। डा० भारतभूषण अग्रवाल के मतानुसार "जिस प्रकार प्रेमचन्द ने पहली बार उपन्यास को गंभीर स्तर पर पहुंचाया था उसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा ने पहली बार ऐतिहासिक उपन्यास को गरिमा प्रदान की।"[१] विवेच्य काल में उनके 'गढ़कुण्डार' (१९२७ ई०), 'लगन' (१९२७ ई०), 'संगम' (१९२७ ई०), 'कुण्डलीचक्र' (१९२८ ई०), 'प्रेम की भेंट' (१९२८ ई०), 'प्रत्यागत' (१९२८ ई०), 'विराटा की पद्मिनी' (१९३० ई०) आदि उपन्यास उपलब्ध होते हैं। 'गढ़कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' ऐतिहासिक उपन्यास हैं और शेष सामाजिक। वर्माजी ने विधिवत् शिक्षा ग्रहण की थी। बी० ए०, एल० एल० बी० करके वे वकालत करने लगे थे। भारतीय इतिहास के प्रति उनका अनुराग विद्यार्थी-काल से ही था। वाल्टर स्काट के उपन्यासों का भी उन्होंने अध्ययन किया था। भारत के इतिहास में वे कुछ संशोधन भी करना चाहते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है --"पहले इतिहास लिखने का विचार था परन्तु किस्से-कहानियां, वीर-गाथाएं सुनने का बचपन से व्यसन था और फिर मिल गए वाल्टर स्काट पढ़ने को तो मैंने अपनी बात कहने का माध्यम उपन्यास चुना।"[२]

स्काट की भांति उनके उपन्यासों कोमें भी इतिहास के साथ कथानक की रंगीनी मिलती है। "ऐतिहासिक पात्रों के साथ वे तत्कालीन समाज का का चित्रण क करने के लिए सामान्य पात्रों की भी सृष्टि करते है और उनके रूपायन में किंवदन्तियों और दन्तकथाओंका भी समावेश कर लेते है। 'विराटा की पद्मिनी इसका सुन्दर उदाहरण है। .. ... जो हो, बुन्देलखण्ड के मध्यकालीन इतिहास पर आधारित उनके ये उपन्यास देश-भक्ति, शौर्य, कर्तव्य और त्याग का आदर्श तो उपस्थित करते ही हैं, वे रमणीक प्राकृतिक परिवेश में भोले-भाले जनों के सरल-मधुर जीवन की भी झलक प्रस्तुत करते हैं।"[३]

---

१. 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' : डॉ० भारतभूषण अग्रवाल : पृ० ६६।

२. 'वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा' : सियारामशरण प्रसाद : पृ०२२४।

३. 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' : डॉ० भारतभूषण अग्रवाल : पृ०६७।

प्रेमचन्दयुग में ही प्रेमचन्द परवर्ती उपन्यास की एक मुख्य प्रवृत्ति ~~अथ~~- व्यक्तिवादी चेतना --- का उदय होने लगा था। इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्रकुमार इस व्यक्तिवादी चिन्तन के वाहक हैं। इन तीनों का अध्ययन-क्षेत्र भी विस्तृत है। फ्रायड आदि के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त से भी ये लेखक परिचित हैं। 'वे जान चुके हैं कि सारी समस्याएँ सामाजिक अथवा आर्थिक ही नहीं ~~हक~~ हैं, उनका सम्बन्ध संस्कार, परिवेश और मनोजगत से भी है।'[1]

इलाचन्द्र जोशी ने बंगला साहित्य तथा विश्व साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। शरदबाबू से भी उनकी भेंट हो चुकी थी। वे बंगला तथा अंग्रेजी में भी लिखते थे। फ्रान्सीसी यथार्थवादी बाल्ज़ाक और ज़ोला तथा रूसी यथार्थवादी दोस्तोइवस्की से वे प्रभावित हैं। इस विस्तृत अध्ययन के साथ यदि प्रेमचन्द का-सा अनुभव उन्हें मिलता तो ज्ञान व अनुभव का मणि-कांचन योग उनकी कला में और निखार लाता। पर प्राय: उनका मनुष्य विषयक ज्ञान पुस्तकीय स्तर पर ही रहा है। अत: डॉ० भारतभूषण अग्रवाल ने ~~ठ~~ उचित ही लिखा है --' दोस्तोइवस्की जीवन लिख रहा था, जोशी शास्त्र लिख रहे हैं।'[2]

भगवतीचरण वर्मा का व्यक्तिवाद अहंवाद की सीमा तक पहुंचा हुआ है। एलेक्जेण्डर ड्यूमा, अनातोले फ्रान्स और शरच्चन्द्र का अध्ययन उन्होंने भी किया है। नव-जागरण के केन्द्र-सी प्रयाग युनिवर्सिटी में उनकी शिक्षा हुई, परन्तु स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण वे कभी भी स्वाध्याय प्रिय नहीं बन सके। अहंवादी होने के कारण प्राय: वे अपने ही चिन्तन-मनन पर दारोमदार बांधते हुए प्रतीत होते हैं।

विवेच्य काल में उनके दो उपन्यास मिलते हैं ---'पतन' (१९२८ ई०) और 'चित्रलेखा' (१९३४ ई०)। ये दोनों ही उपन्यास इतिहास के भ्रम पर आधारित एक प्रकार के रम्याख्यान हैं।[3] 'पतन' की अपेक्षा 'चित्रलेखा' अधिक परिपक्व कृति है और उसमें व्यक्तिवाद और स्वच्छन्दतावादी कल्पना का एक ऐसा प्रसन्न योग हुआ है कि युवा वर्ग में वह आज भी उतनी ही लोकप्रिय है जितनी विगत तीस वर्षों में

---

१. 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' : डॉ० भारतभूषण अग्रवाल : पृ०१०२।
२. वही : पृ० १०५। ३. वही : पृ० १०६।

रही है। `चित्रलेखा इस अर्थ में हिन्दी का सदाबहार उपन्यास है।[1] `चित्रलेखा और अनातोले फ्रान्स की विख्यात कृति `ताइस` में कुछ समानताएं हैं जिसका स्वीकार स्वयं लेखक ने भूमिका में किया है, परन्तु तुरन्त वे चेतावनी भी देते हैं --" मेरी `चित्रलेखा और अनातोले फ्रान्स की `ताइस` में इतना ही अन्तर है जितना मुझ में और अनातोले फ्रान्स में है। `चित्रलेखा में मेरा अपना दृष्टिकोण है, मेरी निजी भावना है और मेरे जीवन का संगीत है।"[2]

पाप और पुण्य की समस्या तथा अन्त में महाप्रभु रत्नाम्बर (दूसरे शब्दों में लेखक) द्वारा दिया गया समाधान किशोर वय के मानस के अधिक अनुकूल है। दार्शनिक परिपक्वता का उसमें अभाव है। तथापि घटनाओं और पात्रों की प्रकृतिगत विशेषता का समन्वय, अन्तर्द्वन्द्वात्मकता, नाट्यात्मकता तथा पात्र एवं वातावरण के अनुकूल भाषाशैली आदि विशेषताएं कृति को एक अनूठा सौन्दर्य प्रदान करती हैं।

जैनेन्द्रकुमार इस काल के तीसरे व्यक्तिवादी लेखक हैं। वर्मा जहां अहंवादी हैं, वहां जैनेन्द्र अहं को आत्मपीड़ा में घुला ~~देते हैं~~ देना चाहते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़कर वे उच्च शिक्षा नहीं ले पाये परन्तु उनकी आत्म-केन्द्रित प्रवृत्ति ने उन्हें स्वाध्याय प्रिय बना दिया। प्रेमचन्द की भाँति वे भी आदर्शवादी हैं परन्तु वह वैयक्तिक यथार्थ पर आधारित है। `प्रेमचन्द: एक कृती व्यक्तित्व` में जैनेन्द्र ने जहाँ प्रेमचन्द की अंतिम रात्रि का वर्णन किया है, वहाँ दोनों की पारस्परिक बातचीत में यह तथ्य उभर कर ~~अन्त है~~ आता है कि प्रेमचन्द अन्त में पूर्णतया यथार्थवादी हो गये थे, जबकि जैनेन्द्र का आग्रह उस समय आदर्शवाद की ओर दीखता है।

उनकी प्रथम कृति `परख` (१९२९ ई०) आदर्शवाद में प्रेमचन्दजी से भी दो कदम आगे है। `घृणामयी` और पतन` की तुलना में `परख` भाग्यशाली कृति सिद्ध हुई। लेखक की प्रथम कृति होने के बावजूद उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। आज भी उसकी मार्मिकता ~~अक्षु~~ अक्षुण्ण है। `अपने समग्र रूप में वह रवीन्द्रनाथ के उपन्यास `आँख की किरकिरी` का ध्यान दिलाता है और उसका कठोर विनोद

---

१. `हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव` : डॉ० भारतभूषण अग्रवाल : पृ० १०६।
२. वही : पृ० १०६।

(ग्रिम ह्यूमर) भी उसी की ओर संकेत करता है।"[1]

'परख' और 'सुनीता' में हमें प्रेमचन्द से एक पृथक् परम्परा का स्पष्ट स्पष्ट सूक्ष्म संकेत मिलता है। 'सुनीता' (१९३४ ई०) हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक बहुचर्चास्पद कृति है। 'सुनीता' का हरिप्रसन्न के आगे अनावृत होना कई आलोचकों को चौंका गया था, परन्तु अभुक्त काम-वासना के शिकार हरिप्रसन्न के मन की ग्रन्थि को खोलने के लिए यह आवश्यक था। श्रीकान्त हरि के प्रति समलैंगिक आकर्षण का अनुभव करता है, अत: पत्नि सुनीता के प्रति कुछ ठण्डा है। संक्षेप में इस का कथावस्तु पूर्णतया मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए है।

अस्तु, सामाजिकता, बाह्य स्थूल घटना-क्रम, समस्या-निरूपण, बाह्य संघर्ष आदि के स्थान पर वैयक्तिकता, आन्तरिक सूक्ष्म घटना-क्रम, मानसिक जटिलता और आन्तरिक संघर्ष जैन्द्र जैनेन्द्र में प्रधान हो जाते हैं। उपन्यास के इस नये रूप-बन्ध के अनुसार भाषा भी सूक्ष्मता, सांकेतिकता, काव्यात्मकता एवं व्यंग्य लिए हुए रहती है। इस प्रकार प्रेमचन्द-काल में ही एक नये युग का सूत्रपात शनै: शनै: हो रहा था।

<u>निष्कर्ष</u>: अध्याय के समग्रावलोकन के पश्चात् यह निष्कर्षत: कहा जा सक सकता है कि प्रेमचन्दजी के युग-निर्माता व्यक्तित्व ने हिन्दी उपन्यास को इस काल में एक विशिष्ट गरिमा, ऊंचाई एवं इयत्ता प्रदान की थी। इसके पूर्व हिन्दी उपन्यास अपरिपक्व एवं दिशाहीन था। प्रेमचन्दजी ने मानवीय संवेदना का अवलम्ब देकर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। मानव-चरित्र को उसके समग्र रूप में --'सु' और 'कु' से समन्वित रूप में ---रखने का सर्वप्रथम प्रयत्न उनके द्वारा हुआ।

यह हमारा सद्भाग्य है कि हिन्दी उपन्यास प्रारम्भ से ही सामाजिक चेतना को लेकर चला था, परन्तु बीच में कुछ समय के लिए वह इस धारा से हटकर मनोरंजनप्रधान और रोमान्सवादी हो गया। प्रेमचन्दजी ने पुन: उसे सामाजिक-चेतना से संकलित किया। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास को रोमान्स से यथार्थ की ओर, महल से झोंपड़े की ओर ले आये।

प्रेमचन्दजी के औपन्यासिक व्यक्तित्व में एक क्रमागत विकास दृष्टिगोचर होता है। वे क्रमश: आदर्शवाद एवं आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से होते हुए सम्पूर्ण यथार्थ-

MEHTA LIBRARY

वाद की ओर संक्रमित हुए हैं। वे सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि थे। अपने उपन्यासों में उन्होंने मानव-जाति के शोषण --- विशेषत: नारी, किसान और मजदूर के शोषण --- के खिलाफ आवाज़ बुलन्द की। उनकी भारतीय जन-जीवन से ~~सम्बन्धित~~ सम्बन्धित समस्याओं की पकड़ श्लाघनीय है।

उन्होंने न केवल युग की चेतना को संवारा, अपितु उसे समृद्ध एवं गतिशील करने के लिए कई लेखकों को प्रोत्साहित भी किया। यह उनके युग-व्यापी प्रभाव का ही परिणाम है कि बहुत से कवि एवं नाटककार भी उपन्यास के क्षेत्र की ओर प्रवृत्त हुए। ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने भी इस काल-खण्ड में सामाजिक उपन्यास ही अधिक लिखे।

प्रेमचन्दजी जहाँ सामाजिक यथार्थ की समग्रता को लेकर चलते हैं, वहाँ इस काल-खण्ड में 'उग्र', ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री ~~प्र~~ प्रभृति उपन्यासकार केवल आलोचनात्मक दृष्टिकोण को लेकर चले हैं जिससे उनमें समाज के नग्न चित्रण की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। इसी युग के अन्तिम चरण में व्यक्तिवादी चेतना का सूत्रपात भी हो जाता है। इस काल में उपन्यास न केवल गांभीर्य को प्राप्त करता है, अपितु इस काल के उपन्यासकारों में शिल्पगत सजगता के भी दर्शन होते हैं। उग्रजी, भगवतीचरण वर्मा तथा जैनेन्द्र जैसे उपन्यासकार शिल्प-बोध के नये क्षितिजों को टोहते हुए प्रतीत होते हैं जो प्रेमचन्दोत्तर युग में नयी संभावनाओं को प्रस्तुत करते हैं।